

...म्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्यचि...
...यं बन्धः । ' ब्रूते च–' सखे, स्नायुनि...
...द्यं भट्टारकवारे कथमेतान्दन्तैः स्पृ...
...दि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते य...
...त्कर्तव्यम् । ' इत्युक्त्वा तत्समीप आत्म...
...स्थितः सः । अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले
...मवलोक्यैतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं दृष्ट्वोवाच
...किमेतत् । ' मृगेणोक्तम्–' अवधीरितसुहृद्वा...
...ष्ठमेतत् । तथा चोक्तम्–

गीदड वारंवार जाल देख विचारने लगा–अब यह दृढ (पक्का) बँधा है. और बोला–मित्र ! यह जाल स्नायु (तांत) के बने हैं, तो आज रविवारके दिन कैसे इनको दातोंसे स्पर्श करूं ? मित्र ! जो तू अन्यथा न माने तो प्रातःकाल जो तू कहेगा सो करूंगा. यह कह उसके पास अपने (शरीर) को ढककर वैठ गया. इसके पीछे वह कौवा सायंकालके समय हिरनको न आया देख इधर उधरसे ढूंढ उस प्रकार जालमें बँधा देखकर बोला–मित्र ! यह क्या ? मृग बोला–मित्रके वचन न सुननेका यह फल है. जैसा कहा है–

---

१ ' रविवारको मांस भोजनका शास्त्रमें निषेध है इसीसे शृगालने यह बहना बताया । शास्त्रसंग्रहकी उक्ति है कि–माषं तैलं च मांसं च मसूरं निम्बपत्रकं । भक्षयेद्यो रवेर्वारे सप्तजन्मन्यपुत्रकः ॥ आर्द्रकं मधु मांसं च भक्षयेद्यो रवेर्दिने । सप्तजन्मानि रोगी स्याज्जन्मजन्मदरिद्रता ॥ निम्बं मांसं मसूरं च बिल्वं कांजिकमार्द्रकम् । भक्षयेद्यो रवेर्वारे सप्त... ...पुत्रकः ॥ ' रविवारको उड़द, तैल, मांस, मसूर, निंबपत्र, ...का भक्षण करनेसे ... सात ... [illegible] ... होता है.

ज्ञामानां यः शृणोति न भाषितम्।
ा तस्य स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ८० ॥'

ोंके कहनेको जो नहीं सुनता वह मनुष्य अपने शत्रुओंको आनंद दिलाता है ॥ ८० ॥

ब्रूते–'स वञ्चकः क्वास्ते।' मृगेणोक्तम्–'मन्मां-
ष्ठत्यत्रैव।' काको ब्रूते–'उक्तमेव मया पूर्वम्।

बोल–वह ठग कहां है? मृग बोला–मेरे मांसकी इच्छा य ही स्थित है. काक बोला–मैं ने पहलेही कहा था.

राधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम्।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ८१ ॥

मेरा अपराध (कुछ) नहीं है. यह बात विश्वासका कारण नहीं है. गुणवानोंकोभी हिंसकोंसे भय होताही है अर्थात् यह न समझना चाहिये कि हमने कोई अपराध नहीं किया अत एव हमें दुष्टोंका भय करना न चाहिये. तुम इस विश्वाससे उनका विश्वास मत करो क्यों कि दुष्ट लोग सज्जनोंकोभी कष्ट देतेही हैं ॥ ८१ ॥

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वंति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ ८२ ॥

गतायुष (जिनकी उमर बीतनेवाली है) वे पुरुष दीपकके बुझनेकी गंधको नहीं सूंघ सक्ते, मित्रके वचनको नहीं सुनते और अरुन्धतीके तारेको नहीं देख सक्ते ॥ ८२ ॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ ८३ ॥'

पीछे कामके नाश करनेवाले और सामने प्रिय बोलनेवाले

१ 'यो न तिष्ठति शासने। प्राज्ञानां कृतविघ्नानां' इ. पा. म. भा.
'यत्नतो बन्धम्' इ. पा. व. चा.

काकशब्दं श्रुत्वा मृगः सत्वरमुत्था
तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगु
तथा चोक्तम्–

फिर प्रातःसमय काकने लाठी हाथमें लिये
आता देखा. उसे देख काक बोला–हे मित्र हरिण
पेट फुलाय पाओंको फैलाकर अपने आपको मुर्देकी
पडे रहो जब मैं शब्द करूं, तब तू उठकर शीघ्र भा
काकके कहनेसे वैसेही पड रहा फिर आनंदसे आखों
मान किये हुए खेतके स्वामीने इस प्रकार हरिणको
बोला–आहा ! मृग तो आपही मरगया. यह कह मृगक
छोड पांशोंके लेनेका यत्न करने लगा, तब काकका शब्द सुन. मृग
शीघ्र उठकर भागा. उसे देख उस खेतके स्वामीने लाठी वगेली
उससे गीदड मारा गया. ठीक कहा है कि–

त्रिभिवर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८९ ॥

बडे भारी पाप या पुण्यको करके मनुष्य उसके फलको इसी
लोकमें तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष या तीन दिनमें भोग
लेता है ॥ ८९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि–'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि ।

इससे मैं कहता हूं कि– ' भक्ष्य भक्षकोंकी प्रीति विपत्तिका
कारण है ' इत्यादि ।

काकः पुनराह ।

'भक्षितेनापि भवता नाहारो मम पुष्कलः ।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवानघ ॥ ९० ॥

काक फिर बोला–आपको भक्षण करनेसेभी मेरा भोजन अच्छी

कता और हे निर्दोष ! मैं चित्रग्रीवकी नाईं तेरे ॥ ९० ॥

रश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम् ।
तां हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते ॥ ९१ ॥

र दूसरे–पुण्यशील पक्षियोंकाभी विश्वास है क्यों कि श्रेष्ठोंका सा शील होनेसे नहीं बदलता ॥ ९१ ॥

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥ ९२ ॥

वरन–क्रोध आनेपरभी साधु (श्रेष्ठ पुरुष) का मन विकारको प्राप्त नहीं होता क्योंकि फूसकी आग समुद्रके जलको नहीं तपा सकती ॥ ९२ ॥

हिरण्यको ब्रूते–' चपलस्त्वम् । चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः । तथा चोक्तम्–

हिरण्यक बोला–तू चपल है, चपलसे स्नेह कदापि न करना चाहिये. जैसा कि कहा है–

मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा ।
विश्वासात्प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नोचितः ॥ ९३ ॥

विलाव, महिष (भैंसा), मेंढा, काक, तुच्छ मनुष्य ये सब विश्वाससे समर्थ होते हैं अतएव इनमें विश्वास करना उचित नहीं ॥ ९३ ॥

किं चान्यत् । शत्रुपक्षो भवानस्माकं शत्रुणा सन्धिर्न विधेया । उक्तं चैतत्–

और अधिक क्या ! आप हमारे शत्रु हैं और शत्रुसे सन्धि न करे । कहाभी है कि–

शत्रुणा नहि संदध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ९४ ॥

दृढ संधिसेभी शत्रुसे मेल न करे, क्योंकि बहुत गरम जलभी अग्निको बुझाही देता है ॥ ९४ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥ ९५ ॥

विद्यासे विभूषित हुआभी दुष्ट त्याग करनेही योग्य है क्या मणिसे शोभायमान सर्प भयंकर नहीं है ? ॥ ९५ ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९६ ॥

जो अशक्य (न हो सकने योग्य) है, वह शक्य (हो सकने योग्य) नहीं होता, जो शक्य है, वह शक्यही है । न जलमें गाडी चलती है, न पृथ्वीपर नांव चल सकती है ॥ ९६ ॥

अपरं च ।

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९७॥'

औरभी—जो शत्रुओंपर और विरक्त स्त्रियोंपर चाहे जितने बडे प्रयोजनसेभी विश्वास करता है, यह उसके जीवनका अंत है ॥९७॥

लघुपतनको ब्रूते— 'श्रुतं मया सर्वम् । तथापि मम चैतावान्संकल्पस्त्वया सह सौहृदमवश्यं करणीयमिति । नोचेदनाहारेणात्मानं तव द्वारे व्यापादयिष्यामि, तथा हि ।

लघुपतनक बोला—मैंने सब सुना, तौभी मेरा यह संकल्प

कि, तुम्हारे साथ मित्रता अवश्य करूंगा, नहीं तो तुम्हारे द्वारपर अनाहार करके अपने प्राण त्याग कर दूंगा. क्यों कि–

मृद्घटवत्सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु संधेयः॥ ९८॥

मिट्टीके घडेकी नाईं दुर्जन सहजसे तोडने और कठिनतासे संयुक्त करनेके योग्य होता है, श्रेष्ठ तो सोनेके घडेकी नाईं कठिनतासे तोडने योग्य और आशु (शीघ्र) मिलानेके योग्य होता है॥ ९८॥

किं च।

द्रवत्वात्सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम्।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम्॥ ९९॥

बल्कि–सब धातुओंका पिघलनेसे, मृगपक्षियोंका किसी कारणसे, मूर्खोंका भय और लोभसे, तथा सज्जनोंका देखनेसेही मेल होता है॥ ९९॥

किं च।

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥ १००॥

औरभी–सज्जन नारियलके समान रूपवाले दिखाई देते हैं और कुमित्र बेरीकी समान रूपवाले बाहरहीसे सुंदर हैं॥ १००॥

अत एव सतां संगतिरिष्यते। यतः–

इसीसे सब लोग सत्संगतिकी इच्छा करते हैं कारण कि–

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम्।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नान्ति तन्तवः॥ १०१॥

प्रीति नाश होनेपरभी श्रेष्ठोंके गुण विकार नहीं लाते. क्यों कि, टूट जानेपरभी मृणालके सूत्र संगमें लगे रहते हैं॥ १०१॥

अन्यच्च ।

शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥१०२॥

औरभी—शुद्ध चित्त होना, देना, शूरता, सुख-दुःखमें समानता, चतुराई, प्रेम, सत्यता ये मित्रोंको गुण हैं ॥ १०२ ॥

एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः ।' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याह— 'आप्यायितोऽहं भवतामनेनवचनामृतेन । तथा चोक्तम्—

इन गुणोंसे युक्त आपके सिवाय मुझे और कौन मित्र मिलेगा ? ऐसे उसके वचन सुन हिरण्यक बाहर निकलकर बोला—मैं आपके इस अमृततुल्य वचनसे पुष्ट हुआ. कहा है—

घर्मार्ते न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥

धूपसे दुःखीको न ऐसा शीतल जलसे स्नान, न मोतियोंकी माला और न हरेक अंगमें लगाया हुआ चन्दनही वैसा सुख देता है, जैसा प्रायः चित्तके प्रेमसे श्रेष्ठोंका भाषण सुख देता है. सज्जनोंकी बात चीत आकर्षण मंत्रके समान है) ॥ १०३ ॥

अन्यच्च ।

रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम्॥१०४॥

---

१ 'शुचिता' २ 'समानसुखदुःखता । अनुरागश्च दाक्ष्यं च'

५ पा. का. नी.

औरभी-भेद खोलना, मांगना, निठुरता, चित्तकी चंचलता, क्रोध, झूंठ और जुआ ये मित्रके दूषण हैं ॥ १०४ ॥

अनेन वचनक्रमेण तदेकदूषणमपि त्वयि न लक्ष्यते । यतः ।

इन वचनोंमें जो दोष कहे हैं उनमेंसे एकभी तुम्हारे विषैं नहीं दीखता । कारण कि-

पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥ १०५ ॥

चतुरता और सत्य बोलना, कथाके योगसे जाना जाता है. स्थिरता और चंचलता ये प्रत्यक्षसे अर्थात् सन्मुख होनेसे जानी जाती हैं ॥ १०५ ॥

अपरं च ।

अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०६ ॥

औरभी-शुद्धचित्तवालोंकी मित्रता औरही प्रकारकी होती है, तथा शठतासे उपहत (नष्ट) चित्तवालेकी वाणी औरही प्रकारकी होती है ॥ १०६ ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद्दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०७ ॥

दुष्टके मनमें कुछ और वचनमें कुछ और, एवं काममें कुछ और होता है. महात्माओंके मनमें एक, वचनमें एक और कर्ममेंभी एक होता है ॥ १५७ ॥

---

१ यह श्लोक कामन्दकीय नीतिके निम्न लिखित दो श्लोकोंका संकलित है । ' गुणाढ्यं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिमां तथा । कथायोगेन बुद्ध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम् ॥ अस्तब्धतामचापल्यं वैराणां चापि कर्तृताम् । प्रत्यक्षतो विजानीयाद्भद्रतां क्षुद्रतामपि ॥ '

ऐसे मित्रको पयोमुख विषके घडेके समान त्या[illegible]
विष और मुखमें दूध हो उसे पयोमुख कहते हैं।

ततः काको दीर्घं निःश्वस्योवाच-'[illegible]
त्वया पापकर्मणा कृतम् । यतः-

फिर काकने दीर्घ श्वास लेकर कहा-अरे ठ[illegible]
किया ? क्यों कि-

संलापितानां मधुरैर्वचोभि-
र्मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।
आशावतां श्रद्दधतां च लोके
किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ॥ ८४ ॥

मधुर वचनसे जिनसे बातें करी हों उनको, और झूंठे उपचारसे वश किये हुओंको, आशावालोंको, विश्वासियोंको और अर्थियोंको क्यों ठगना चाहिये ? ॥ ८४ ॥

उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे कथं वहसि ॥ ८५ ॥

हे भगवती पृथ्वी ! उपकार करनेवाले, विश्वासी, शुद्धाचरण करनेवाले पुरुषके प्रति जो पापका आचरण करता है, उस झूंठी प्रतिज्ञावाले मनुष्यको तू कैसे सम्हालती है ॥ ८५ ॥

दुर्जनेन समं सख्यं वैरं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ ८६ ॥

दुष्टके साथ मित्रता वा बैर कुछभी न करे, गरम अंगारा हाथको जलाता है और ठंडा काला कर देता है ॥ ८६ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम् ।

---

१ इसका भाव यह है कि ठगना न चाहिये । अथवा यहभी [illegible] हो सक्ता है कि इस प्रकारके व्यक्तियोंको [illegible] बड़ी बात [illegible]

स्वभावही ऐसा है।

पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८७ ॥

(मच्छर) पावोंपर गिरता (बैठता) है, कमरके मांसको खाता है, धीरे २ कानमें अत्युत्तम सुंदर अद्भुत शब्द करता है. छिद्र देख निडर हो घुसता है (इस प्रकार) दुष्टके सब चरित्र मच्छर करता है ॥ ८७ ॥

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥८८॥

दुष्ट प्रियवादी है. यह विश्वासका कारण नहीं अर्थात् दुष्टका प्रियवादी होना विश्वासका कारण नहीं है क्योंकि उसकी रसना (जीभ) के आगे तो मधु और हृदयमें हालाहल विष रहता है ॥८८॥

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन्काकेनावलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तम्–'सखे मृग, त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान्स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसि।' मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः। 'आः, स्वयं मृतोऽसि' इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा पाशान्ग्रहीतुं सयत्नो बभूव। ततः

१ किसी २ पुस्तकमें इतना पाठ और अधिक है–| ततः कियद्दूरे स्थिते क्षेत्रपतौ स मृगः।

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव।' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं संतोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैर्विश्रम्भालापैश्च कालोऽतिवर्तते।

इसलिये आपहीका मनोरथ पूरा हो, यह कह हिरण्यक मित्रता कर, अनेक भोजनोंसे कौवेको प्रसन्न कर भट्टेमें घुसा. कौआभी अपने स्थानको गया. तबसे उन दोनोंका अनेक प्रकारके भोजन। देने, कुशल पूंछने, विश्वासकी बातोंसे समय व्यतीत होने लगा

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे, कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानं तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि।' हिरण्यको ब्रूते—'मित्र, क्व गन्तव्यम्। तथा चोक्तम्—

एक समय लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा—मित्र ! कष्टसे भोजन मिलनेवाले इस स्थानको छोडकर मैं दूसरे स्थानको जाना चाहता हूं. हिरण्यक बोला—मित्र ! कहां जाओगे ? कहा है—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशाः नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्॥१०८॥

स्थानसे छूटकर दन्त, केश (बाल), नख और नर (मनुष्य) शोभा नहीं पाते, ऐसा जानकर बुद्धिमान् अपने स्थानका परित्याग न करे ॥ १०८ ॥

काकेनोक्तम्—' मित्र ! कापुरुषस्य वचनमेतत्। यतः—

काकने कहा—मित्र ! यह कायर पुरुषोंका कथन है। कारण कि—

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥१०९॥

सिंह, सत्पुरुष और हाथी ये सब स्थानको छोडकर चले जाते हैं; काक, कायर पुरुष और मृग ये सब वहांही अर्थात् एकही स्थानमें मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १०९ ॥

अन्यच्च ।

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः ।
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ॥
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते ।
तस्मिन्नेव हतद्विपेंद्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ११०

औरभी-मनस्वी वीरके लिये स्वदेश वा परदेश क्या है ? वह जिस देशका आश्रय करता है; अपनी भुजाओंके बलसे उसीका विजय कर लेता है । नख और लांगूलके द्वारा प्रहार करनेवाला सिंह जिस वनका अवगाहन करता है, उसीमें हाथियोंको मार उनके रुधिरसे अपनी प्यासको बुझाता है ॥ ११० ॥

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
मा समीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥१११॥"

बुद्धिमान् एक पांवसे चलता है, और एकसे स्थित रहता है, दूसरे स्थानको न देखकर पहला स्थान न छोडे ॥ १११ ॥

वायसो ब्रूते-'अस्ति सुनिरूपितस्थानम् ।' हिरण्यकोऽवदत्-'किं तत् ।' वायसो ब्रूते-'अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः । तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः कच्छपो धार्मिकः प्रतिवसति । यतः ।

कौवा बोला-अच्छी तरह देखा हुआ स्थान है. हिरण्यक बोला-कौनसा ? कौवा बोला-दण्डकवनमें कर्पूरगौर नाम सरोवर है. वहां

बहुत समयसे किया हुआ मेरा प्रिय मित्र मंथर नाम धार्मिक कच्छप रहता है. देखो–

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥ ११२ ॥

पराये उपदेशमें सब मनुष्योंका पांडित्य सहज है, आप धर्ममें अनुष्ठान करना, किसीही महात्माका होता है ॥ ११२ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति । ' हिरण्यकोऽप्याह–' तत्किमत्रावस्थाय मया कर्त्तव्यम् । यतः ।

और वह अनेक भोजनोंसे मेरी वृद्धि करेगा । हिरण्यक बोला– तो मैं यहां रहकर क्या करूंगा ? कारण कि–

यस्मिन्देशे न संमानो न वृत्तिर्न च बान्धवः ।
न च विद्यागमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥ ११३ ॥

जिस देशमें सन्मान, आजीविका, बंधुजन, किसी विद्याका प्राप्ति नहीं, उस देशको छोड देना चाहिये ॥ ११३ ॥

अपरं च ।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पंचमः ।
पंच यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ॥ ११४ ॥

औरभी–धनाढच, वेदपाठी ब्राह्मण, राजा, नदी और पंचम वैद्य, जहां ये पांच न हों वहां निवास न करे ॥ ११४ ॥

लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥ ११५ ॥

मनुष्योंका आना अथवा सांसारिक निर्वाह, भय, लज्जा, चतुराई, दानशीलता ये पांच जहां न हों. उस स्थानमें न ठहरे ॥ ११५ ॥

---

१ पर उपदेश कुशल बहुतेरे । जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

तत्र मित्र न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥११६॥

हे मित्र ! वहां वास न करे, जहां ये चार न हों ऋण (कर्ज) देनेवाला, वैद्य, पंडित और जलवाली नदी ॥ ११६ ॥

ततो मामपि तत्र नय । 'काको ब्रूते—' एवमस्तु ' अथ वायसस्तत्र तेन मित्रेण सह विचित्रालापैः सुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्थरो दूरादवलोक्य लघुपतनकस्य यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्यातिथिसत्कारं चकार । यतः—

सो मुझेभी वहां ले चलो । काकने कहा—' ऐसेही सही ' इसके पीछे कौवा वहांसे उस मित्रके साथ विचित्र बातें करता, सुखसे उस सरके पास जा पहुँचा. तौ मंथरने दूरसे देख लघुपतनकका यथायोग्य सन्मान कर मूषिककाभी अतिथिसत्कार किया. क्यों कि—

बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥११७॥

क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या युवा, जो घरमें आया हो, उसकी पूजा करनी चाहिये, आया हुआ पुरुष सबका गुरु होता है॥११७॥

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥११८॥

द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र इन वर्णों) का गुरु अग्नि है, वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है, स्त्रियोंका गुरु केवल पति है और सबका गुरु अभ्यागत है ॥ ११८ ॥

वायसोऽवदत्—'सखे मन्थर, सविशेषपूजामस्मै विधेहि । यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः । एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः स्यात् ।' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् । मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह—' भद्र, आत्मनो निर्जनवनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि ।' हिरण्यकोऽवदत्—' कथयामि । श्रूयताम् ।

कौवा बोला—मित्र मंथर ! इसकी बहुत पूजा कर, क्यों कि—यह पुण्यात्माओंमें अग्रणी, दयासागर हिरण्यक नाम चूहोंका राजा है, इसके गुणोंकी प्रशंसा दो हजार जिह्वाओंसे शेषजीभी कभी करनेको समर्थ न होंगे. यह कह चित्रग्रीवकी कथा कही. मंथर आदरपूर्वक हिरण्यककी पूजा करके बोला—हे श्रेष्ठ ! अपने जनरहित वनमें आनेका कारण कहो. हिरण्यक बोला. कहता हूं, सुनिये ।

कथा ॥ ४ ॥

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः । तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति । स च भोजनावशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति । अहं च तदन्नमुत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः

१ " सर्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याशा ब्रह्ममूलता । निष्परिग्रहताऽद्रोहः समता सर्वजन्तुषु ॥ प्रियाप्रियपरिष्वंगे सुखदुःखेऽविकारिता । सबाह्याभ्यन्तरं शौचं मनसा हितचिन्तनम् ॥ सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणा ध्याननिरतता । भावसंशुद्धिरित्येषः परिव्राड्वर्य उच्यते ॥ "

समायातः । तेन सह कथाप्रसङ्गावस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । तद्दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच–' सखे, किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान् । यतः–

चंपक नाम नगरीमें संन्यासियोंका स्थान है, वहां चूडाकर्ण-नाम संन्यासी रहता है; वह भोजनके बचे हुए भिक्षाके अन्नसहित भिक्षाके पात्रको नागदंतक (खूंटी) में रखकर सो रहता था, मैं उसके अन्नको कूदकूदकर प्रतिदिन खाता था; इसके पीछे उसका प्रिय मित्र वीणाकर्ण संन्यासी वहां आया. उसके साथ कथाके प्रसंगमें स्थित हो मेरे त्रासके लिये चूडाकर्ण खोकले बांसके टुकडेसे पृथ्वीको ताडन करने लगा. यह देखकर वीणाकर्ण बोला–मित्र ! क्या आप मेरी कथासे विरक्त हो, और अन्यत्र आसक्त होते हो ? क्योंकि–

मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः
कथानुरागो मधुरा च वाणी ।
स्नेहोऽधिकः सम्भ्रमदर्शनं च
सदानुरक्तस्य जनस्य लक्ष्यम् ॥ ११९ ॥

मुखका प्रसन्न होना, निर्मल दृष्टि, कथाके प्रसंगमें अनुराग, मधुर वाणी, स्नेहकी अधिकता, संभ्रम (सादर वा प्रेम)से सहित देखना ये सदा अनुराग करनेवाले जनके लक्षण हैं ॥ ११९ ॥

अथ च ।

अतुष्टिदानं कृतपूर्वनाशन–
ममाननं दुश्चरितानुकीर्त्तनम् ।
कथाप्रसंगेन च नामविस्मृतिः
विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम् ॥ १२

और यह । असन्तुष्ट होकर दान देना (अथवा ऐसा दान देना जिसमें सन्तोष न हो), प्रथम किये हुए (उपकार वा कर्म) का नाश करना, निरादर करना, दुराचरणोंका कीर्त्तन करना और कथाके प्रसंगमें नामका विस्मरण हो जाना ये मनुष्यकी विरक्तताके लक्षण हैं ॥ १२० ॥

चूडाकर्णेनोक्तम्–' मित्र ! नाहं विरक्तः । किन्तु पश्यायं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति । ' वीणाकर्णो नागदन्तकमवलोक्याह– ' कथं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद्दूरमुत्पतति । तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम् । तथा चोक्तम्–

चूडाकर्णने कहा–' मित्र ! मैं विरक्त नहीं हूं, किन्तु–देखो यह हमारा अपकारी मूषा पात्रमें धरे हुए भिक्षाके अन्नको सदाही कूद २ कर खाता है, वीणाकर्णने खूंटीको देखकर कहा अल्पबलधारी यह चूहा इतना ऊंचा कैसे कूदता है, सुतराम् इसमें कोई कारण होगा । जैसा कि कहाभी है–

अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वाकृष्य चुम्बति ।
पतिं निर्दयमालिङ्ग्य हेतुरत्र भविष्यति ॥ १२१ ॥'

अकस्मात् युवा स्त्री केशोंमें आकर्षण करके आलिंगन कर निर्दय वृद्ध पतिको चूमती है, इसमें कोई हेतु होगा ॥ १२१ ॥

चूडाकर्णः पृच्छति–'कथमेतत्' वीणाकर्णः कथयति–

चूडाकर्णने पूंछा–यह कै ? वीणाकर्ण बोला–

कथा ॥ ५ ॥

अस्ति गौडीये कौशाम्बी नाम नगरी । तस्यां चन्दनदासनामा वणिग्महाधनो निवसति । तेन पश्चिमे

वयसि वर्तमानेन कामाधिष्ठितचेतसा धनदर्पाल्लीलावती नाम वणिक्पुत्री परिणीता । सा च मकरकेतोर्विजय-वैजयन्तीव यौवनवती बभूव । स च वृद्धपतिस्तस्याः संतोषाय नाभवत् । यतः–

बंगालमें कौशांबी नाम नगरी है; उसमें चंदनदास नाम वैश्य बडा धनी वसता है. उसनें वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर चित्तमें कामने निवास किया था इस कारण धनके अभिमानसे लीलावती नाम वैश्यकी पुत्री विवाही. वह कामके विजयकी पताका (ध्वजा) की नाई यौवनवती हुई और बूढा पति उसका संतोष न कर सका. कारण कि–

शशिनीव हिमार्तानां घर्मार्तानां रवाविव ।
मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ ॥ १२२ ॥

जैसे पालेसे दुःखी पुरुषका मन चंद्रमामें और धूपसे पीडितका मन सूर्यमें रमण नहीं करता. ऐसेही वृद्धावस्थासे निर्बल इन्द्रिय-वाले पतिमें स्त्रियोंका मन नहीं रमता ॥ १२२ ॥

अन्यच्च ।

पलितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता ।
भैषज्यमिव मन्यंते यदन्यमनसः स्त्रियः ॥ १२३ ॥

औरभी–बाल सपेद होनेपर पुरुषोंकी सुन्दरता क्या हो सक्ती है ? क्यों कि जिनका मन औरमें आसक्त है. वे स्त्रियें पतिको ओषधीकी नाईं जानती हैं ॥ १२३ ॥

स च वृद्धपतिस्तस्यामतीवानुरागवान् । यतः–
और वह वृद्धपति उसमें बडा प्रेम किया करता था, कारण कि–

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा ।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ १२४ ॥

धन और जीवनकी आशा प्राणधारियोंको सदा भारी होती है और वृद्धको युवा स्त्री प्राणोंसेभी अधिक भारी होती है ॥ १२४ ॥

नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी ।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम् ॥ १२५ ॥

बूढा विषयोंको न भोग सकता और न छोडनेको समर्थ होता है. (जैसे) कुत्ता केवल जीभसे हड्डियोंको चाटताही है ॥ १२५ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलमर्यादा केनापि वणिक्पुत्रेण सहानुरागवती बभूव । यतः—

इसके पीछे वह लीलावती यौवनके दर्पसे कुलकी मर्यादा छोड किसी वैश्यके पुत्रसे प्रेम करने लगी. क्योंकि—

स्वातन्त्र्यं पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे सङ्गति-
गोंष्ठी पुरुषसंनिधावनियमो वासो विदेशे तथा ।
संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजायाः क्षतिः
पत्युर्वार्धकमीर्षितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियाः ॥ १२६ ॥

स्वतंत्रता, पिताके यहां रहना, यात्राके उत्सवमें संगति, पुरुषके समीपमें वार्ता, नियमहीनता, विदेशमें रहना, व्यभिचारिणियोंकी संगति, जीविकाकी हानि, पतिका बूढा होना, ईर्षा, वाहर रहना ये स्त्रियोंके नाशके हेतु हैं ॥ १२६ ॥

अपरं च ।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि षट्[१] ॥ १२७ ॥

औरभी । स्त्रियोंके छः दूषण हैं; मद्यपीना, दुष्टोंकी संगति, पतिसे विरह, फिरना, अत्यन्त सोना, पराये घर रहना ॥ १२७ ॥

---

१ ' स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ' इ. पा. म. स्मृ.

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १२८ ॥

हे नारद ! स्थान नहीं, समय नहीं, चाहनेवाला मनुष्य नहीं, इसीसे स्त्रियोंका सतीभाव होता है ॥ १२८ ॥

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ १२९ ॥

न स्त्रियोंका कोई अप्रिय है और न प्रिय है, जैसे गाय वनमें नये नये तृणको चाहती है. ऐसेही स्त्रियां नये नये पुरुषको चाहती हैं ॥ १२९ ॥

अपरं च ।

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद्घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद्बुधः ॥ १३० ॥

औरभी । घीके घडेके समान स्त्री है और गरम अंगारके समान पुरुष है, इसलिये घी और अग्निको पंडित एक जगह न स्थापन करे ॥ १३० ॥

न लज्जा न विनीतत्वं न दाक्षिण्यं न भीरुता ।
प्रार्थनाभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १३१ ॥

न लज्जा, न विनीतभाव, न संकोच, न भय स्त्रीके सतीभावका कारण है. केवल प्रार्थना न होनाही सतीभावमें कारण है ॥ १३१ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १३२ ॥

---

१ ' न चासां मुच्यते कश्चित् पुरुषो हस्तमागतः । गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ॥ ' इ. पा. म. भा. २ ' बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने । पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ ' इ. पा. म. स्म. ३ ' रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः ' इ. पा. म. स्म.

बालकपनमें पिता रक्षा करता है, युवा अवस्थामें पति रक्षा करता है, वृद्धावस्थामें पुत्र रक्षा करता है. स्त्री स्वतंत्र रहनेको योग्य नहीं है ॥ १३२ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १३३ ॥

क्या माता, क्या भगिनी और क्या पुत्री किसीके साथभी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रियोंका समुदाय बडा प्रबल है, विद्वान्कोभी (पापकी ओर) आकर्षण कर लेता है ॥ १३३ ॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुत्रेण सह विश्रम्भालापैः सुखासीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य सहसोत्थाय केशेष्वाकृष्य गाढमालिङ्ग्य चुम्बितवती। तेनावसरेण जारश्च पलायितः। उक्तं च—

एक समय, वह लीलावती रत्नमालाकी किरणोंसे विचित्र पलंगपर उस वैश्यके पुत्रके साथ विश्वासकी बातोंसे सुखपूर्वक शयन करती थी, विना जाने आते हुए अपने पतिको देख शीघ्र उठकर केश आकर्षण कर अतिशय आलिंगनपूर्वक चूमने लगी. उसी समय जारपति भाग गया. कहाभी है कि—

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम् ॥ १३४ ॥

शुक्र जिस शास्त्रको जानते हैं, और जिस शास्त्रको बृहस्पति जानते हैं. वे शास्त्र स्त्रीकी बुद्धिमें स्वभावहीसे स्थिर रहते हैं ॥ १३४ ॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टन्यचिन्तयत्—

'नास्त्यास्तैकान्तिकं वसेत्। यथा संबन्धमाहूयादाभाष्याश्वास्य वै क्षिप्रम् ॥' इ. पा. शु. नी. २ 'स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येते तास्तु ... कथं नरः।' इ. प्रा. म. भा.

'अकस्मादियमेनमुपगूढवती' इति । ततस्तया कुट्टन्या तत्कारणं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता । अतोऽहं ब्रवीमि–' अकस्माद्युवती वृद्धम्' इत्यादि ॥

उसके आलिंगनको देख समीपमें रहनेवाली कुट्टनीने विचारा कि अकस्मात् इसने इसे आलिंगन किया, तब उस कुट्टनीने उसका कारण जान उस लीलावतीको गुप्त दंड किया । इससे मैं कहता हूं–कि अकस्मात् युवा स्त्री इत्यादि.

मूषिकबलोपस्तम्भेन केनापि कारणेनात्र भवितव्यम् । " क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्–' कारणं चात्र धनबाहुल्यमेव भविष्यति । यतः–

ऐसेही यहां चूहेके बलका कोई कारण होगा, क्षणमात्र विचार कर सँन्यासी बोला–यहां कारण धनकी बहुलता होगी, कारण कि–

धनवान्बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ १३९ ॥'

सब धनवान् सब जगह, सब समय संसारमें बलवान् हैं, बल्कि–राजाओंके प्रभुत्व (ऐश्वर्य) का मूलभी तौ धनही होता है ॥ १३९ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा चिरसंचितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रभृति निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पंश्चूडाकर्णेनावलोकितः । ततस्तेनोक्तम्–

फिर उसने खनित्र (कस्सी) ले भट्टेको खोद, बहुत कालसे इकट्ठे किये हुए मेरे धनको ले लिया, तबसे लेकर अपनी शक्तिसे हीन हो, उत्साहसे रहित होनेके कारण अपने भोजनको उत्पन्न

करनेमेंभी असमर्थ हो भयसे धीरे धीरे चलते हुए (मुझे) चूडाकर्णने देखा. तो उसने कहा—

'धनेन बलवांल्लोके धनाद्भवति पण्डितः।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥१३६॥

संसारमें द्रव्यसे (ही) बलवान् होता है, धनसेही पंडित होता है. इस पापी चूहेको देखो अब यह अपनी जातिकी समानही (क्षीण) हो गया ॥ १३६ ॥

किं च।

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा १३७

औरभी। धनसे रहित (अत एव) तुच्छ बुद्धिवाले पुरुषकी सारी क्रिया (ऐसे) नष्ट हो जाती हैं, जैसे गरमीमें छोटी नदियां (सूख जाती हैं) ॥ १३७ ॥

अपरं च।

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पंडितः १३८

औरभी। जिसके पास धन है, उसके मित्र हैं, जिसके पास धन है, उसीके बन्धु हैं, जिसके पास धन है, वही संसारमें पुरुष है, जिसके पास धन है, वही पंडित है ॥ १३८ ॥

अन्यच्च।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता॥१३९॥

१ 'विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वाः' इ. पा. २ 'स च जीवति' इ. पा ३ 'अविद्यं जीवनं शून्यं दिक् शून्या चेदबान्धवा। पुत्रहीनं गृहं शून्यं' इ. पा. लु. चा. ४ 'दिशः शून्यास्त्वबान्धवाः। मुर्खस्य हृदयं शून्यं' इ. पा. पो. चा.

औरभी। जो पुत्ररहित है और श्रेष्ठ मित्रसे विहीन है उस (मनुष्य) का घर सूना है, मूर्खोंको दिशा सूनी है, दरिद्रता सब शून्य करनेवाली है ॥ १३९ ॥

दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम्।
अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम् ॥ १४० ॥

दरिद्र और मरण इन दोनोंमेंसे दरिद्र श्रेष्ठ नहीं कहा जा सक्ता; क्योंकि—मरणमें तो थोडाही क्लेश होता है और दरिद्रजनित क्लेश अत्यन्त दुःसह है ॥ १४० ॥

अपरं च।

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ १४१॥'

औरभी। व्याकुलतारहित इन्द्रियें वेही हैं, वही नाम है, अप्रतिहत (न रुकनेवाली) वही बुद्धि है, वही वचन है, परंतु धनके तापसे रहित वही पुरुष क्षणभरमें औरका और हो जाता है, यही आश्चर्य है ॥ १४१ ॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयालोचितम्—[illegible]पमात्रावस्थानमयुक्तमिदानीम्। यच्चान्यस्मा एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम्। यतः—

यह सब सुन मैंने विचारा कि—मेरा यहां ठहरना अब अयोग्य है और दूसरेसे यह वृत्तांत कहनाभी उचित नहीं है। क्योंकि—

---

१ 'दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्। अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥' इ. पा. मृच्छ.

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥ १४२ ॥

बुद्धिमान्को चाहिये कि–धननाश, मनका ताप, घरके कुचरित्र, ठगाई और अनादरको प्रकाश न करे ॥ १४२ ॥

अपि च ।

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।
तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥ १४३ ॥

औरभी–अवस्था, धन, घरका भेद, मंत्र, मैथुन, औषधि, तप, दान और निरादर ये नव ९ यत्नसे छिपाने चाहिये ॥ १४३ ॥

तथा चोक्तम् ।

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम् ॥ १४४ ॥

औरभी कहा है । प्रारब्धके विपरीत हो जानेपर जब यत्न और पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाय तब मानी दरिद्रको वनके अतिरिक्त और कहां सुख मिल सक्ता है ॥ १४४ ॥

अन्यच्च ।

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् १४५

और दूसरे । बुद्धिमान् मानी पुरुष मर जाता है, पर कृपण होनेकी इच्छा नहीं करता, अग्नि चाहे बुझ जाती है, पर शीतलताको नहीं प्राप्त होती ॥ १४५ ॥

---

१ 'गृहिणीचरितानि च । नीचवाक्यं चापमानं' इ. पा. वृ. चा.
२ '...पोऽपमानदानानि नवैतानि सुगोपयेत' इ. पा. शु. नी.

किं च।

कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १४६ ॥

औरभी। फूलोंके गुच्छोंकी नाईं बुद्धिमान् मानी पुरुषकी दो वृत्ति होती हैं, या तो सबके मस्तकपर रहे, या वनहीमें मुरझा जाय ॥ १४६ ॥

यच्चात्रैव याच्ञया जीवनं तदतीव गर्हितम्। यतः—

और जो यहांही भिक्षा मांगकर जीना है, सो बडाही निंदित है. कारण कि—

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ॥ १४७ ॥

ऐश्वर्यहीन होनेसे प्राणोंके द्वारा अग्निको तृप्त कर दिया जाय, यह श्रेष्ठ है; पर उपचारसे भ्रष्ट (शून्यहृदय) लोभीसे मांगना श्रेष्ठ नहीं ॥ १४७ ॥

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः[1] सत्त्वात्परिभ्रश्यते
निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् १४८॥

दरिद्रतासे लज्जा होती है, लज्जाप्राप्त (मनुष्य) बलसे छूटता है, निर्बल तिरस्कृत होता है, तिरस्कारसे निर्वेदता (खेद) को पाता है, निर्वेदतायुक्त शोकको पाता है, शोकसे हत हुआ बुद्धिसे छोडा जाता है और निर्बुद्धि क्षयको पाता है, हाय ! निर्धनताही सब आपत्तियोंका स्थान है ॥ १४८ ॥

---

१ 'तत्परिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो। निस्तेजाः' इ. पा.

किं च ।

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् १४९

औरभी । चुप रहना श्रेष्ठ है, असत्य वचन कहना श्रेष्ठ नहीं, पुरुषका नपुंसक होना श्रेष्ठ है, किंतु परस्त्रीगमन श्रेष्ठ नहीं, प्राण छोड देना श्रेष्ठ है, पर पिशुनवचन (चुगली) में इच्छा करना श्रेष्ठ नहीं, भिक्षासे भोजन करना श्रेष्ठ है, वरु पराये धनसे स्वादका सुख श्रेष्ठ नहीं ॥ १४९ ॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।
वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥१५०॥

सूनी शाला श्रेष्ठ है, दुष्ट बैल (बंधा) श्रेष्ठ नहीं, वेश्या स्त्री श्रेष्ठ है, अशिक्षित कुलकी स्त्री श्रेष्ठ नहीं वनमें वसना श्रेष्ठ है, पर अज्ञानी राजाके नगरमें वसना श्रेष्ठ नहीं, प्राण छोडना श्रेष्ठ है, नीचोंके पास जाना श्रेष्ठ नहीं ॥ १५० ॥

अपि च ।

सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम् ।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति॥१५१॥

औरभी–जैसे सेवा संपूर्ण मानको, चांदनी अन्धारको, बुढापा लावण्यताको, विष्णु और शिवकी कथा (पापको हरती है), ऐसेही मांगन अनेक गुणोंको नाश करता है ॥ १५१ ॥

इति विमृश्य 'तत्किमहं परपिण्डेनात्मानं पोषयामि। कष्टं भोः। तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम्। यतः-

यह विचार कर, सो मैं कैसे पराये धनसे शरीर पुष्ट करूं! कष्ट है, सोभी दूसरा मृत्युका द्वार है. क्योंकि-

पल्लवग्राहि पाण्डित्यं क्रयक्रीतं च मैथुनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः॥१५२॥

पल्लव (पत्ते) लेकर पंडिताई करना, मोल देकर मैथुन करना और पराधीन भोजन करना; ये तीनों पुरुषोंके अपमान हैं॥१५२॥

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः॥१५३॥

रोगी, बहुत दिनोंसे परदेशी, पराये अन्नका भोजन करनेवाला, पराये स्थानमें सोनेवाला, यह ऐसे जो जीना है, सो मरण है, जो मरना है वही इसका सुख है॥ १५३॥

इत्यालोच्यापि लोभात्पुनरप्यर्थं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम्। तथा चोक्तम्-

यह विचार कर लोभसे फिर मैंने धन ग्रहण करनेको आग्रह किया जैसे कहा है-

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः॥ १५४॥

लोभसे बुद्धि चलती है, लोभ तृष्णाको उत्पन्न करता है; तृष्णा करनेवाला मनुष्य संसारमें और परलोकमें दुःख पाता है॥ १५४॥

---

१ इधर उधरकी दो चार बातें लेके पंडिताई करना, अथवा कंठ कुछ न करना वरु पुस्तकके पत्रे लेके (उन्हें पढ २ कर) पंडिताई करना 'पल्लवग्राहि पाण्डित्य' कहाता है, जिसमें प्रेम तानिक न हो कवल धन देके मैथुन करनेको 'क्रयक्रीत मैथुन' कहते हैं।

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाचिन्तयम्-

सो मैं धीरे धीरे चलता हुआ उस वीणाकर्णके खोकले बांसके टुकडेसे ताडन किया हुआ सोचने लगा-

धनलुब्धो ह्यसंतुष्टोऽनियतात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥१५५॥

धनका लोभी, असन्तोषी, अनियतात्मा, अजितेंद्रिय और जिसका मन तुष्ट न हुआ, इन्हींको सब आपत्तियें होती हैं ॥ १५५ ॥

तथा च।

सर्वाः संपत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १५६ ॥

और कहाभी है। जिसका मन संतुष्ट है, उसको सब संपत्तियें प्राप्त हैं जूता पैरमें पहरनेवालेको पृथ्वी चर्मसे आच्छादन की हुईके समानही है ॥ १५६ ॥

अपरं च।

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १५७ ॥

और दूसरे-जो सुख संतोषरूप अमृतसे तृप्त शांतचित्तवाले पुरुषोंको है. सो सुख इधर उधर दौडते हुए धनके लोभियोंको कहां है ॥ १५७ ॥

किं च।

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥१५८॥

' न म । ड पा.

कारण कि—उसहीनें पढा; उसहीने सुना, उसनेही सब कुछ किया जिसने आशाओंको पीछे कर निराशताका सहारा लिया ॥ १५८ ॥

अपि च ।

असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।
अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १५९ ॥

औरभी । जिसने धनीके द्वारकी सेवा न की, विरहकी व्यथा न देखी, बुरा वचन न कहा, ऐसा धन्य जीवन किसका है (अथवा ऐसा किसी २ का जीवन धन्य है) ॥ १५९ ॥

यतः ।

न योजनशतं दूरं बाध्यमानस्य तृष्णया ।
संतुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥ १६० ॥

क्योंकि—तृष्णासे दुःखीको सौ योजनभी दूर नहीं, संतुष्टके हाथमें प्राप्त धनमेंभी आदर नहीं होता ॥ १६० ॥

तदत्रावस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् ।

सो इस दशामें उचित कार्यका विचार सुखकारी है ।

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमरोगिता जगति जन्तोः ।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः ॥ १६१ ॥

संसारमें जीवोंका क्या धर्म है ? जीवोंपर दया करना, क्या सुख है ? अरोगी होना, क्या स्नेह है ? सत्य प्रेम, क्या पांडित्य है ? यथार्थ विचार ॥ १६१ ॥

तथा च ।

परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः ।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे ॥ १६

औरमी । जब विपत्ति आती है, तब विचार करना यही पांडित्य है. विचार न करनेवालोंको पग २ पर विपत्ति होती है ॥ १६२ ॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १६३ ॥

कुल (समूह) के अर्थ एकको छोडे, ग्रामके अर्थ कुलको छोडे, देशके अर्थ ग्रामको छोडे, अपने शरीरके अर्थ पृथ्वीको त्यागे ॥ १६३ ॥

अपरं च ।

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः ॥ १६४ ॥

औरमी । अनायास यदि जलही मिल जाय और स्वादिष्ठ भोजनकी प्राप्तिमें भय होय तो विचारपूर्वक निश्चय करके देखूं तो जिसमें निवृत्ति हो वही सुख है ॥ १६४ ॥

इत्यालोच्याहं निर्जनवनमागतः । यतः—
यह विचार मैं निर्जनवनको चला आया. क्योंकि—

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं
द्रुमालयं पक्वफलाम्बुभोजनम् ।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥ १६५ ॥

व्याघ्र और हाथियोंसे सेवा किया हुआ वन श्रेष्ठ है, वृक्षोंका घर श्रेष्ठ है, पक्के फल और जलका भोजन श्रेष्ठ है, तृणकी शय्या श्रेष्ठ है, वृक्षोंके वल्कलोंके वस्त्र श्रेष्ठ है, परंतु बंधुओंके बीचमें धनहीनका जीवन श्रेष्ठ नहीं ॥ १६५ ॥

---

१ ' त्यजेत् कुलार्थे पुरुषम् ' इ. पा.

ततोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्यानुगृहीतः। अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः। यतः—

फिर मेरे पुण्यके उदय होनेसे, इस मित्रने मुझे स्नेहकी अनुवृत्तिसे अनुगृहीत किया. अब मैंने पुण्यकी परंपरासे आपका आश्रयरूप स्वर्गही पा लिया. कारण कि—

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सुजनैः सह॥ १६६॥

संसाररूप विषैले वृक्षके दोही रसीले फल हैं, काव्यरूप अमृतरसका स्वाद और श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ संगति॥ १६६॥

अपरं च।

सत्संगः केशवे भक्तिर्गंगांभसि निमज्जनम्।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्॥१६७॥

औरभी। सज्जनोंकी संगति, नारायणकी भक्ति और गंगाजलमें स्नान करना, इन्ही तीन बातोंको इस असार संसारमें सार जानना चाहिये॥ १६७॥

मन्थर उवाच—

'अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्
आयुष्यं जललोलबिंदुचपलं फेनोपमं जीवितम्।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतःशोकाग्निना दह्यते१६८॥

मंथर बोला—धन पैरोंकी धूरिके समान है, यौवन पहाडकी नदीके वेगकी समान है, आयु जलके बबूलोंकी बिंदुके समान

१ 'कद्रु०' २ 'फले अमृतोपमे' ३ 'सुभाषित०' ४ 'संमज्जि'

चपल है, जीवन फेनकी समान है, जो कुबुद्धि, स्वर्गकी किवाडोंके मूसलको उघाडनेवाले धर्मको नहीं करता, वह वृद्धावस्थाको प्राप्त हो, पश्चात्तापयुक्त शोककी अग्निसे जलाया जाता है ॥ १६८ ॥

युष्माभिरतिसंचयः कृतः । तस्यायं दोषः । शृणु–

तुमनेभी बडा संचय किया. उसीका यह दोष है सुनो–

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १६९ ॥

सरोवरके पेटमें स्थित जलके परीवाह (नल) की समान संचय किये हुए धनोंका दान करनाही रक्षण है ॥ १६९ ॥

अन्यच्च ।

यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितंपचः ।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १७० ॥

औरभी । जो धन लोभीने अत्यन्त नीचे गाडा है, (मानो) उसने नीचे जानेके लिये आगेसे मार्ग किया है ॥ १७० ॥

अन्यच्च ।

निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम् ॥ १७१ ॥

औरभी । अपने सुखको रोकता हुआ, जो व्यक्ति धन संचय करना चाहता है, वह पराये लिये बोझ उठानेवालेके समान क्लेशहीका पात्र है ॥ १७१ ॥

अपरं च ।

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १७२ ॥

औरभी । दान और भोगरहित धनसे जो धनी हो सकते

हैं तो, उस (पृथ्वीमें गडे हुए) धनसे हमभी धनी क्यों नहीं हैं ॥ १७२ ॥

दानोपभोगहीनाश्च दिवसा यान्ति यस्य वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ १७३ ॥

जिसके दिन दान और उपभोगसे रहित व्यतीत होते हैं, वह लुहारकी धोंकनीकी सदृश श्वास लेता हुआभी जीवित नहीं है १७३॥

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् १७४॥

उस धनसे क्या ? जिसका दान और उपभोग न किया जाय; उस बलसे क्या ? जिससे शत्रुओंको बाधा न पहुँचाई, यदि धर्मका आचरण न किया तो शास्त्र (धारण) से क्या लाभ ? और जो जितेन्द्रिय न हो उस आत्मासेभी क्या लाभ है ? ॥ १७४ ॥

न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने ।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः ॥ १७५ ॥

कंजूसका धन देवता, ब्राह्मण, भाई बन्धु और अपने हेतु नहीं व्यय होता, किन्तु उसके द्रव्यको अग्नि भस्म करती, चोर चुराता या राजा छीन लेता है ॥ १७५ ॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति १७६

दान, भोग या नाश धनकी ये तीन गति हैं, जो व्यक्ति न दान करता और न उसे भोगताही है उसके धनकी (नाशरूप) तीसरी गति होती है ॥ १७६ ॥

---

१ 'यत' २ 'येन' ३ 'येन' ४ 'वशी' इ. पा. म. भा.

अन्यच्च ।

अंसंभोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः ।
अस्येदमिति संबन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥१७७॥

औरभी । उपभोगरहित होनेसे लोभीका धन दूसरोंके धनकी बराबर है, फिर 'इस लोभीका यह-धन है' ऐसा संबंध हानि होनेपर दुःख होनेसे जाना जाता है ॥ १७७ ॥

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥१७८॥

प्रियवचनसहित दान, गर्वरहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता, दानमें लगा धन, यह चार संसारमें दुर्लभ हैं ॥ १७८ ॥

उक्तं च ।

कर्तव्यः संचयो नित्यं कर्तव्यो नातिसंचयः ।
पश्य संचयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः १७९॥'

और कहाभी है कि—संचय नित्य करे परन्तु अतिसंचय (ध इकट्ठा) न करे, देखो यह अतिसंचय करनेवाला गीदड धनुष्से मारा गया ॥ १७९ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ।' मन्थरः कथयति—

उन दोनोंने पूंछा—यह कैसी कथा है ? मंथरने कहा—

कथा ॥ ६ ॥

आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । सचैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याटवीं गतवान् । ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । ततस्तेन व्याधेन

मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेणाहतः । शूकरेणापि घनघोरगर्जनं कृत्वा स व्याधो मुष्कदेशे हतः संछिन्नद्रुम इव भूमौ निपपात । यतः-

कल्याणकटमें रहनेवाला भैरव नाम एक व्याध था, वह एक समय मांसप्राप्तिकी इच्छासे धनुष लेकर मृगको ढूंढता हुआ विंध्याचलके वनमें गया, वहांसे मारे हुए मृगको लेकर जाते हुए उसने घोर आकारवाला एक शूकर देखा, उस व्याधने मृगको पृथ्वीपर रख बाणसे शूकरको मारा, शूकरनेभी घनघोर गर्जना कर उस व्याधके अंडकोशमें मारा, तब वह कटे हुए वृक्षकी नाईं पृथ्वीपर गिरपडा. क्योंकि-

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः ।
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते ॥१८० ॥

जल, अग्नि, विष, शस्त्र, क्षुधा, पीडा, पहाडसे गिरना, इनमेंसे किसी निमित्तको पाकर शरीरधारी प्राणोंसे छूट जाता है ॥ १८० ॥

अथ तत्र तयोः पादास्फालनेनैकः सर्पोऽपि मृतः । अथानन्तरं दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृगव्याधसर्पशूकरानपश्यत् । अचिन्तयच्च-अहो, मद्भाग्यमद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम् । अथवा ।

इसके उपरांत वहां उन दोनोंके पैरोंके ताडनसे एक सर्पभी मर गया था, इस पीछे घूमते हुए भोजनकी इच्छा करनेवाले दीर्घराव नाम गीदडने उन मरे हुए मृग, व्याध, सर्प, शूकरोंको देखा, और सोचा कि-अहो ! आज हमारा बहुत अच्छा भाग्य है, बड़ा भोजन प्राप्त हुआ है । अथवा ।

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम् ।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १८१ ॥

जैसे विना सोचे दुःख जीवोंको प्राप्त होते हैं, ऐसेही मैं सुखभी मानता हूं. यहां प्रारब्धही मुख्य है ॥ १८१ ॥

तद्भवतु । एषां मांसैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति ।

तो यह हो, इनके मांससे मेरे तीन मास सुखसे व्यतीत होंगे ।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ १८२ ॥

एक मास मनुष्यसे बीतेगा, दो महीनेको मृग और शूकर हैं, एक दिनको सर्प है, आजका भोजन धनुषकी प्रत्यंचा है ॥ १८२॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि' इत्युक्त्वा तथा कृते सति छिन्ने स्नायुबन्धन उत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—' कर्तव्यः संचयो नित्यम्' इत्यादि ॥ तथा च ।

सो पहिली भूंखमें यह स्वादरहित धनुष्यमें लगा हुआ तांतका बंधन खाता हूं. यह कह वैसा करनेसे प्रत्यंचा टूटकर ऊपरको उछटते हुए धनुषके जोरसे हृदयमें विधा हुआ वह गीदड मृत्युको प्राप्त हुआ. इससे मैं कहता हूं कि, अति संचय न करे, इत्यादि. कहाभी है कि ।

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम् ।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ १८३ ॥

जो देता है और जो खाता है, यही धनीका धन है. मरे हुएके धन और स्त्रियोंसे और लोग क्रीडा (खेल, भोग) करते हैं॥१८३॥

किं च।

यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ॥ १८४ ॥

औरभी। जो तू श्रेष्ठोंको देता है और जो दिनदिनप्रति खाता है, उसी धनको मैं तेरा जानता हूं, शेष (बाकी) किसीके लिये रक्षा करता है ॥ १८४ ॥

यातु। किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन। यतः-

जाने दो, अब बहुत कहनेसे क्या है. क्योंकि-

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ १८५ ॥

श्रेष्ठ बुद्धिवाले (पण्डित) जन न मिलने योग्य वस्तुकी इच्छा नहीं करते. नष्टको सोचते नहीं और आपत्तिमेंभी मोहित नहीं होते ॥ १८५ ॥

तत्सखे, सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम्। यतः-

सो हे मित्र ! सदा तू उत्साहपूर्वक रह. कारण कि-

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १८६ ॥

शास्त्रोंको पढकरभी मूर्ख रह जाते हैं, जो क्रिया करनेवाला पुरुष है, वही विद्वान् है, क्योंकि-रोगियोंको नाममात्रसे सोची हुई औषधि निरोग नहीं करती ॥ १८६ ॥

---

१ 'पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः। सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स धार्मिकः ॥' भारतमें ऐसी इसकी छाया है.

अन्यच्च ।

न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः
करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि ।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ॥ १८७ ॥

औरभी । उत्साहसे डरनेवालेको विज्ञानविधि कुछभी गुण नहीं करती, इस लोकमें अंधेको हथेलीमें स्थित दीपकभी द्रव्य नहीं दिखला सकता ॥ १८७ ॥

तदत्र सखे, दशाविशेषे शान्तिः करणीया । एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम् । यतः–

इसलिये हे मित्र ! इस दशामेंभी शांतिही करनी चाहिये, यह अतिकष्टभी तुम्हें न मानना चाहिये. कारण कि–

राजा कुलवधूर्विप्रा मन्त्रिणश्च पयोधराः ।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः १८८

राजा, कुलकी स्त्री, ब्राह्मण, मंत्री, कुच, दांत, केश, नख और मनुष्य ये अपनी जगहसे पृथक् होनेपर शोभा नहीं देते ॥ १८८ ॥

इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत् । कापुरुषवचनमेतत् । यतः–

यह जानकर बुद्धिमान् अपने स्थानको नहीं छोडे, यह वचन तुच्छ जनोंका है. क्योंकि–

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषाः गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १८९ ॥

सिंह, सत्पुरुष और हाथी तो स्थानको छोडकरही जाते हैं, और काक, तुच्छ जन, मृग वहांही मृत्यु पाते हैं ॥ १८९ ॥

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशस्तथा
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः १९०

बुद्धिमान् शूर-वीरका देश या परदेश कौनसा है ? जिस देशका आश्रय लेता है, उसीको भुजाओंके प्रतापसे आर्जित (संचय) करता है. दांत, नख, पूंछके शस्त्र रखनेवाला सिंह जिस वनमें फिरता है, उसहीमें मारे हुए हाथीके रुधिरसे अपनी प्यास बुझाता है॥ १९० ॥

अपरं च।

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥ १९१ ॥

औरभी–जैसे निपान (चौवच्चे) में मेंडक और पूर्ण सरोवरमें जैसे पक्षी आते हैं ऐसेही उद्योगी मनुष्यके वशमें सारी संपत्तियां रहती हैं ॥ १९१ ॥

अन्यच्च।

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ १९२ ॥

---

१ ‘सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्। सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्त्ततः॥ एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च। जीवेषु परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥ सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते। न ह्यनन्तं सुखं कश्चित् वर्तते पुरुषर्षभ॥ सुखमापतितं सेवेद्दुःखमापतितं वहेत्। कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः॥ सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्। पर्यायेणोपसर्पन्ति नरं नेमिनरा इव॥’ इसके महाभारतमें ऐसे रूपांतर हैं.

और दूसरे–जैसे प्राप्त हुआ सुख सेवनीय है, वैसेही प्राप्त हुआ दुःखभी. सुख और दुःख चक्रकी नाईं आते जाते हैं ॥ १९२ ॥

अन्यच्च ।

उत्साहसंपन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥ १९३ ॥

और । जो पुरुष उत्साहवान्, आलस्यरहित, क्रियाकी विधिको जाननेवाला, व्यसनोंमें न फसा हुआ, शूर, कृतज्ञ, दूसरेकी करी हुई भलाईका माननेवाला, पक्की मित्रता करनेवाला (दृढचित्त) है ऐसे पुरुषके पास निवासके लिये लक्ष्मी आपही जाती है ॥ १९३ ॥

विशेषतश्च ।

विनाप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते १९४

और विशेषकर–वीर विना धनकेही बडे सन्मान और उच्चपदको पहुँचता है और लोभी धनसंपन्नभी तिरस्कारको प्राप्त होता है, क्या सोनेकी माला पहरे हुएभी कुत्ता सिंहकी द्युतिको पा सकता है ? अर्थात् नहीं पाता ॥ १९४ ॥

धनवानिति हि मदो मे किं गतविभवो विषादमुपयामि ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् १९५ ॥

मैं 'धनवान्' हूं यह मेरा मद है, क्या ऐश्वर्यरहित होकर विषादको प्राप्त होऊं ? हाथमें रक्खे हुए गेंदकी समान मनुष्योंके पात और उत्पात होते हैं ॥ १९५ ॥

अपरं च ।

अभ्रच्छाया खलप्रीतिर्नवसस्यानि योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥१९६॥

और दूसरे । बादलकी छाया, दुष्टकी प्रीति, नया अन्न, स्त्री, यौवन और धन ये सब थोडे समयके भोगने योग्य होते हैं॥ १९६॥

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पातिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ॥१९७॥

वृत्ति (जीविका) के लिये अधिक चेष्टा न करे, क्यौंकि, वह ब्रह्माने (पहलेही) नियत कर दी है, गर्भसे जीव निकलतेही माताके स्तन टपकने लगते हैं ॥ १९७ ॥

अपि च सखे,

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १९८॥

औरभी–हे मित्र ! जिसने हंसोंको श्वेत और तोतोंको हरा बनाया, तथा मयूरोंको चित्ररंगका बनाया है, वही तेरी आजीविकाको करेगा ॥ १९८ ॥

अपरं च । सतां रहस्यं शृणु मित्र ।

और–हे मित्र ! सत्पुरुषोंका रहस्य सुन ।

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु ।
मोहयन्ति च संपत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥ १९९॥

संचय करनेमें दुःख उत्पन्न करते हैं. विपत्तियोंमें संताप करते हैं. सम्पत्तिमें मोहते हैं. इस प्रकारके धन कैसे सुख प्राप्त करानेवाले हैं ॥ १९९ ॥

---

१ 'अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये । सहन्ते च महद्दुःखं हन्ति नैवार्थकारणात् ॥' इ. पा. म. भा.

अपरं च ।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ २०० ॥

औरभी । धर्मके लिये जिसको धनकी इच्छा है, उसका निरिच्छ (इच्छारहित) होना श्रेष्ठ है, क्योंकि-कीचके धोनेसे दूरसे न छूनाही श्रेष्ठ है ॥ २०० ॥

यतः ।

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ २०१ ॥

क्योंकि । जैसे आकाशमें पक्षियोंसे, पृथ्वीपर पशुओंसे, जल नाकोंसे मांस भक्षण किया जाता है, ऐसेही सब जगह धनीभीमें खाया जाता है ॥ २०१ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ २०२ ॥

राजा, जल, अग्नि, चौर और अपने जनोंसेभी धनवानोंको नित्य ऐसा भय रहता है. जैसा प्राणधारियोंको मृत्युसे ॥ २०२ ॥

तथा हि ।

जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ।
इच्छासंपद्यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥ २०३ ॥

औरभी । प्रभूत क्लेशसे परिपूर्ण इस जन्ममें इससे अधिक क्या दुःख हो सक्ता है कि, इसकी इच्छाके अनुकूल प्राप्ति नहीं होती अत एव इच्छाकी निवृत्तिभी नहीं होती ॥ २०३ ॥

अन्यच्च भ्रातः, शृणु ।

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् २०४॥

हे भ्रातः! और सुनो पहले तो धनही सुलभ नहीं और प्राप्त किया हुआ (धन) कठिनतासे रक्षा किया जाता है और प्राप्त धनका नाश मृत्युके समान है, इस कारण इसकी चिंता न करे २०४

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम्२०५॥

इस संसारमें तृष्णाको छोडकर कौन दरिद्री है? और कौन धनी है? और जो उसको फैलाव दिया तो दास्यता (सेवकाई) शिरपर स्थित है॥ २०५॥

अपरं च।

यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते॥२०६॥

औरभी। ज्यों ज्यों इच्छा करता है, त्यों त्यों इच्छा होती जाती है, प्राप्त धन वही है जिससे वांछानिवृत्ति हो॥ २०६॥

किं बहुना मम पक्षपातेन। मयैव सहात्र कालो नीयताम्। यतः।

मेरे बहुत पक्षापातसे क्या? मेरे साथ यहांही समय बिताइये. क्योंकि–

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः।
परित्यागाश्च निःसङ्गाः भवंति हि महात्मनाम्२०७॥

महात्माओंका प्रणय (नम्रता) जीवनपर्यन्त रहनेवाला और कोप क्षणमात्रमें नाश होनेवाला और दान स्वार्थरहित होता है॥ २०७॥

१ 'ईहा धनस्य न सुधा लब्धे चिन्ता च भूयसी।' २ 'लब्धं भवति वा न वा' इ. पा. म. भा.

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—'धन्योऽसि मन्थर, सर्वथा श्लाघ्यगुणोऽसि । यतः—

यह सुन लघुपतनक बोला—हे मंथर ! तू धन्य है, इस कारण तुम्हारे गुण श्लाघाके योग्य हैं । कारण कि—

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः ॥ २०८ ॥

श्रेष्ठही नित्य श्रेष्ठोंकी आपत्तिके उद्धार करनेको समर्थ हैं, कीचमें फंसे हुए हाथियोंके भार (बोझ) के धारण करनेवाले हाथीही होते हैं ॥ २०८ ॥

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात्कमलं नहि भेकस्त्वेकवासोऽपि॥२०९॥

गुणका ज्ञाताही गुणियोंके संगमें प्रसन्न होता है, निर्गुणीका गुणीमें सन्तोष नहीं होता, भ्रमर तो वनसेभी कमलके ऊपर आता है और भेक (मैंडक) उसके साथ निवास करकेभी उसके पास नहीं आता ॥२०९ ॥

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ २१० ॥'

पृथ्वीपर मनुष्योंमें वही एक श्लाघा करने योग्य है, और उत्तम सत्पुरुष धन्य है, जिसके यहांसे मांगनेवाले और शरणागत लोग निराश होकर विमुख नहीं जाते ॥ २१० ॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सतुष्टाः सुखं निवसन्ति ।

सो इस प्रकार वे सब अपनी इच्छानुसार आहार, विहार करते संतुष्ट हो सुखसे रहने लगे.

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मिलितः। ततो मृगमवलोक्य पश्चाद्भयहेतुं संचिन्त्य मन्थरो जलं प्रविष्टः। मूषिकश्च विवरं गतः। काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः। ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचितम्। पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः मन्थरेणोक्तम्–'भद्र, मृग, स्वागतम्। स्वेच्छयोदकाद्याहारोऽनुभूयताम्। अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम्।' चित्राङ्गो ब्रूते–'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः भवद्भिः सह सख्यमिच्छामि। भवन्तश्चानुकंपयन्तु मैत्र्येण। यतः–

इसके पीछे कभी चित्रांग नाम मृग किसीके भयसे वहां आ मिला तब मृगको देख पीछे भय जान मंथर जलमें और मूषा भट्टेमें प्रवेश कर गया और कौआ उडकर वृक्षपर जा बैठा, इसके पीछे लघुपतनकने दूरतक देखकरभी भयका हेतु कुछ नहीं है; यह विचारा, तब उसके कहनेसे फिर सब मिल वहांही बैठ गये। मंथर बोला–हे सज्जन मृग! अच्छी प्रकार आये! अपनी इच्छानुसार अन्न जलका उपभोग कीजिये यहां विराज कर इस वनको सनाथ कीजिये। चित्रांग बोला–व्याधसे डरा हुआ मैं आपकी शरण आया हूं, आपके साथ मित्रता करनेकी इच्छा करता हूं। सो आप मित्रता करनेकी कृपा करें। क्योंकि–

लोभाद्वापि भयाद्वापि यस्त्यजेच्छरणागतम्।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः॥ २११॥'

जो व्यक्ति लोभ अथवा भयके कारण अपने शरणमें आये हुएको त्याग देता है, पण्डितजन कहते हैं, उसे ब्रह्महत्याकी समान पाप होता है ॥ २११ ॥

हिरण्यकोऽवदत्—'मित्रत्वं तावदस्माभिः सहायत्नेनैव निष्पन्नं भवतः । यतः—

हिरण्यकने कहा हमारे साथ आपकी मित्रता तो विनाही यत्न किये हो गई । कारण कि—

औरसं कृतसंबन्धं तथा वंशक्रमागतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ २१२ ॥

हृदयसे उत्पन्न औरस पुत्रादि, जिससे संबंध किया गया है, वंशमें क्रम (सिलसिले) से प्राप्त हुआ, व्यसनोंसे बचानेवाला ये चार प्रकारके मित्र जानने चाहिये ॥ २१२ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम् ।' तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा स्वेच्छाहारं कृत्वा पानीयं पीत्वा जलासन्नतरुच्छायायामुपविष्टः । यतः—

सो आप यहां बिलकुल अपने घरकी भांति निवास करें । यह सुनकर मृग आनन्दित हो अपनी इच्छानुसार भोजन और जलपान करके जलाशयके निकटवाले बटवृक्षकी छायामें बैठ गया । कारण कि—

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टकागृहम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥ २१३ ॥

कुएका जल, बडके वृक्षकी छाया, श्यामा स्त्री और ईटोंका

---

१ शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला । तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कीर्तिता ॥ स्निग्धनखनयनदशना निरतिशया मानिनी स्थिरस्नेहा । सुस्थिरशिशिरमांसलवरांगना सा मता श्यामा ॥

बना हुआ घर ये चारों शीतकालमें उष्ण (गरम), तथा उष्णकालमें शीतल होते हैं ॥ २१३ ॥

अथ मन्थरेणोक्तम्–'सखे मृग, एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि। कदाचित्किं व्याधाः संचरन्ति।' मृगेणोक्तम्–'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः। स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटको वर्तते। प्रातश्च तेनात्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यमिति व्याधानां मुखात्किंवदन्ती श्रूयते। तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरकार्यमारभ्यताम्।' तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह–'मित्र, जलाशयान्तरं गच्छामि।' काकमृगावप्युक्तवन्तौ–'एवमस्तु।' ततो हिरण्यको विहस्याह–'जलाशयान्तरे प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्। स्थले गच्छतः कः प्रतीकारः। यतः–

फिर मंथर बोला–हे मित्र मृग! इस जनरहित वनमें तू किससे डरा. व्याधालोग फिरते हैं? हरिण बोला कि–कलिंगदेशमें रुक्मांगद नाम राजा है, वह दिग्विजयके व्यापारके क्रमसे आकर चंद्रभागा नदीके किनारे आकर सेनासहित ठहरा है. प्रातःसमय यहां आ कर्पूरसरके पास आकर ठहरेगा, यह कथन व्याधोंके मुखसे सुना जाता है, सो यहांभी प्रातःसमय ठहरना भयका हेतु है, यह विचारकर जैसा समय (मौका) हो, कार्य कीजिये. यह सुन कच्छप भयसहित बोला कि–मैं दूसरे जलाशय (जलके स्थान) में जाऊंगा. काक और मृग बोले–ऐसाही कीजिये. तब हिरण्यक हँसकर बोला कि–दूसरे जलाशयमें जानेसे मंथरकी कुशल है. परंतु पृथ्वीपर चलनेका क्या उपाय है! क्योंकि–

अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां मन्त्री परं बलम् २१४

जलजीवोंको जल, दुर्ग (कीला) के रहनेवालोंको दुर्ग, श्वापद (पशु) आदिकोंको अपनी भूमि, राजाको मंत्री बडा बल है ॥२१४॥

सखे लघुपतनक, अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्।

मित्र लघुपतनक! इस उपदेशसे ऐसा होगा।

स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वाः पीडितं कुचकुड्मलम्।
वणिक्पुत्रोऽभवद्दुःखी त्वं तथैव भविष्यसि॥२१५॥'

जैसे एक वैश्यका पुत्र आप अपनी स्त्राकि स्तनकुड्मलको अन्यके द्वारा मसले हुए देख दुःखी हुआ था ऐसेही तू होगा ॥ २१५ ॥

त ऊचुः—'कथमेतत्।' हिरण्यकः कथयति—

वे बोले—यह कैसे ? हिरण्यक बोला—

कथा ॥ ७ ॥

अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा। तेन वीरपुरनाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः। स च महाधनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां ल[illegible]ण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास। ततः स्वहर्म्यं गत्वा स्मराकुलमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान्। यतः—

कान्यकुब्ज (कन्नौज) देशमें वीरसेन नाम राजा थे, उसने वीरपुर नाम नगरमें तुंगबल नाम राजपुत्रको भोगपति (ठेकेदार या थनैत) किया, इस बडे धनी युवाने एक समय अपने नगरमें घूमते हुए अतिशय यौवनवती लावण्यवती नाम बनियेके पुत्रकी

वधू देखी तो अपने घर जा कामसे चित्तमें व्याकुल हो उसके पास दूती भेजी. कारण कि-

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव। भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥ २१६ ॥

तभीतक मनुष्य सन्मार्गमें स्थित रहता है. तबतकही इंद्रियोंका दमन कर सकता है. तभीतक लज्जा रखता है और तभीतक विनयका अवलम्बन करता है जबतक सुन्दरियोंकी भौंहके धनुषसे खेंचकर छोडे हुए. कानपर्यन्त विस्तृत हुए. धैर्यके हरनेवाले ये नीले पलकरूप दृष्टिबाण हृदयमें नहीं लगते हैं ॥ २१६ ॥

सापि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्जरितहृदया तदेकचित्ताभवत्। तथा ह्युक्तम्-

उस लावण्यवतीका हृदयभी इसके देखतेही कामके बाणके प्रहारसे जर्जरित हो गया था अत एव वहभी इसके प्रति विशेष अनुरागिणी हो गई। जैसा कहा है-

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता।
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः २१७॥

असत्य (झूठ), साहस (पुरुषार्थ), माया (छल कपट), मत्सरता, अति लोभ, गुणरहित होना और अपवित्रता ये सब स्त्रियोंके स्वाभाविक दोष हैं ॥ २१७ ॥

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच-'अहं पति-

---

१ जबत (?) कामिनि नैनके, लगत न शर उर आन। तबतकही या देहमें, सबके दीखत प्रान॥

व्रता परपुरुषस्पर्शमात्रमपि न करोमि तत् कथमेतस्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्ते । यतः—

इस पीछे दूतीके वचन सुन लावण्यवती बोली—मैं पतिव्रता हूं. पर पुरुषका स्पर्शमात्रभी नहीं कर सक्ती तौ कैसे इस पतिके उलंघन करनेवाले अधर्ममें प्रवृत्त होऊं ? क्योंकि—

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता२१८

वह भार्या (स्त्री) है, जो घर (के कार्य) में चतुर है; वह भार्या है जो संतानवाली है. वह भार्या है, जिसका पति प्राणरूप है, वह भार्या है जो पतिव्रता है ॥ २१८ ॥

न सा भार्येति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां संतुष्टाः सर्वदेवताः ॥ २१९ ॥

जिसका पति प्रसन्न न हो, उसे भार्या न कहना चाहिये. क्योंकि पतिके प्रसन्न होनेसे स्त्रियोंके सब देवता प्रसन्न होते हैं ॥ २१९ ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाहमविचारितं करोमि ।' दूत्योक्तम्—' सत्यतममेतत् ।' लावण्यवत्युवाच—' ध्रुवं सत्यमेतत् ।' ततो दूतिकया गत्वा तत्तत्सर्वं तुङ्गबलस्याग्रे निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा तुङ्गबलोऽब्रवीत्—' कुसुमायुधेन व्रणितहृदयस्तां विना कथमहं जीविष्यामि ? ' कुट्टन्याह—' स्वामिनानीय समर्पयितव्येति ' तेनोक्तम् ' कथमेतच्छक्यम् । ' कुट्टन्याह—' उपायः क्रियताम् । तथा चोक्तम्—

१ ' शुचिः ' २ ' पतिव्रता ' इ. पा. वृ. चा. ३ ' प्रीता ' ४ ' प्रियंवदा ' इ. पा. ५ ' स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां ' ६ ' तुष्टाः स्युः ' इ. पा. म. भा.

इस कारण मेरा प्राणपति जो जो आज्ञा करता है; उसकोही मैं विना विचारे करती हूं। दूती बोली–क्या यह सच है ? लावण्यवती बोली–यह बिलकुल सच है. इस पीछे दूतीने जाकर सब वृत्तान्त तुंगबलके आगे कहा. यह सुन तुंगबल बोला–मेरा हृदय कामवाणसे विदीर्ण हो गया है अत एव विना उसके मैं कैसे जी सकूंगा ? कुट्टिनी बोली–जो पति लाकर सौंपे. उसने कहा–यह कैसे हो सके ? कुट्टनी बोली–उपाय कीजिये. जैसा कहा है–

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ २२० ॥

जो उपायसे हो सकता है, वह पराक्रमसे नहीं हो सकता गीदडने कीचके मार्गसे जाते हुए हाथीको मारा ॥ २२० ॥

राजपुत्रः पृच्छति–'कथमेतत्।' सा कथयति–

राजपुत्रने पूंछा–यह कैसे ? वह बोली–

कथा ॥ ८ ॥

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती। तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म–'यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते तदास्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भविष्यति।' तत्रैकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञातम्–'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्।' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच–'देव, दृष्टिप्रसादं कुरु।' हस्ती ब्रूते–'कस्त्वम्। कुतः समायातः।' सोऽवदत्–'जम्बुकोऽहम्। सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्था-

पितः । यद्विना राज्ञाऽवस्थातुं न युक्तं तदत्राटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान्सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः । यतः—

ब्रह्मारण्यमें कर्पूरतिलक नाम एक हाथी था. उसे देख सब शृगाल विचारने लगे कि—जो यह किसी उपायसे मरे तो इसके देहसे हमारा चार महीनेका भोजन हो सक्ता है, उनमेंसे एक बूढे शृगालने कहा कि—मैं अपनी बुद्धिके प्रभावसे इसको मार डालूंगा. इस पीछे वह ठग कर्पूरतिलकके पास जा, आंठों अंगोंसे गिर (दंडवत्) प्रणाम कर बोला—हे देव ! दयादृष्टि कीजिये. हाथी बोला—तू कौन है ? कहांसे आया है ? वह बोला—मैं गीदड हू. सब वनके रहनेवाले पशुओंने मिल आपके पास भेजा है कि विना राजाके रहना योग्य नहीं. सो इस वनमें राज्यतिलकके लिये संपूर्ण स्वामीके गुणोंसे युक्त आपको नियत किया है. क्योंकि—

> यः कुलाभिजनाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।
> धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥२२१॥

जो लोकाचार और कुलाचारके द्वारा अतिशय पवित्र, प्रतापी, धर्मात्मा और नीतिमें कुशल हो वह पृथ्वीपर स्वामी होनेके योग्य है ॥ २२१ ॥

अपरं च पश्य ।

> राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम् ।
> राजन्यसति लोकेस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम् ॥२२२॥

और देखो—पहले राजाको प्राप्त करे, फिर भार्याको और फिर धनको अन्वेषण करे, क्योंकि—इस लोकमें राजाके न होनेसे कहां स्त्री है ? और कहां धन है ? ॥ २२२ ॥

---

१ जानुभ्यां च तथा पद्भ्यां पाणिभ्यामुरसा धिया । शिरसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते ॥ २ 'लोकस्य' इ. पा.

अन्यच्च।

पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ॥२२३॥

औरभी–राजा मेघके समान मनुष्योंका आधार है, मेघके न वरसनेसे जिया जा सकता है, किन्तु राजाके न होनेसे नहीं जिया जाता॥ २२३॥

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याभ्युपैति॥२२४॥

प्रायः दंड देनेसे लोग नियत विषयमें वर्त्तमान रहते हैं, इस पराधीन जगत्में अच्छे आचरण करनेवाला दुर्लभ है. कुलीन स्त्री दण्डके भयसे दुर्बल, व्याकुल, व्याधित तथा निर्धनभी पतिको अंगीकार करती है॥ २२४॥

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन।' इत्युक्त्वोत्थाय चलितः। ततोऽसौ राज्यलोभाकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः। ततस्तेन हस्तिनोक्तम्–'सखे शृगाल, किमधुना विधेयम्। पङ्के निपतितोऽहं म्रिये। परावृत्य पश्य।' शृगालेन विहस्योक्तम्–'देव, मम पुच्छकाग्रावलम्बनं कृत्वोत्तिष्ठ। यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूयतामशरणं दुःखम्। तथाचोक्तम्–

१ 'पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः। नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम्।' इ. पा. म. भा. २ 'कृशमथ' इ. पा. ३ 'पतिमिव' इ. पा.

सो जबतक लग्नका समय न टले, तबतक आप शीघ्र आइये यह कह उठकर चला. फिर यह कर्पूरतिलक राज्यके लोभसे खिचकर गीदडके मार्गसे दौडता बडी कीचमें फँस गया तो उस हाथीने कहा—मित्र गीदड! अब क्या करना चाहिये? मैं कीचमें डूबा हुआ मरता हूं. लौटकर देख. तौ गीदड हँसकर बोला—हे देव! मेरी पूंछका सहारा लेकर उठो और जो तुमने मुझसे प्राणीके वचनका विश्वास किया, उसके अनिर्वार्य दुःखको भोगो. जैसा कहा है—

यदा सत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि।
तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि॥२२५॥'

जब सत्संगसे रहित होओगे, तब दुर्जनोंकी संगतमें अवश्य पडोगे॥ २२५॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि॥

फिर बडी कीचमें डूबे हुए हाथीको गीदडोंने खा लिया इसीसे मैं कहती हूं कि—उपायसे जो हो सकता है, वह पराक्रमसे नहीं हो सकता.

ततः कुट्टन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार। ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः।

फिर कुट्टनीके उद्देशसे उस राजपुत्रने उस चारुदत्तनाम वैश्यपुत्रको नौकर रक्खा. फिर उसने इसे सब विश्वासके कामोंमें लगाया.

एकदा तेन राजपुत्रेण स्नातानुलिप्तेन कनकरत्नालंकारधारिणा प्रोक्तम्—' अद्यारभ्य मासमेकं गौरीव्रतं कर्तव्यम्। तदत्र प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय

समर्प्य। सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या। ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतीमानीय समर्पयति। पश्चात्प्रच्छन्नः सन्किमयं करोतीति निरूपयति। स च तुङ्गबलस्तां युवतीमस्पृशन्नेव दूराद्वस्त्रालंकारगन्धचन्दनैः संपूज्य रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति। अथ वणिक्पुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन लोभाकृष्टमनसा स्ववधूं लावण्यवतीं समानीय समर्पिता। स च तुङ्गबलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय ससंभ्रममुत्थाय निर्भरमालिङ्ग्य निमीलिताक्षः पर्यङ्के तया सह विललास। तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि- 'स्वयं वीक्ष्य' इत्यादि। तथा त्वयापि भवितव्यम्' इति।

एक समय स्नान कर चंदन लगाय सोने, हीरे आदि जवाहिर-जडित भूषण पहिने राजपुत्रने कहा कि-आजसे लेकर एक महीनेतक मैं गौरीका व्रत करूंगा, इसलिये यहां हर रात्रिको एक कुलीन युवा स्त्रीको लाया करो. उसे मैं यथायोग्य विधिसे पूजूंगा; इसके पीछे उस चारुदत्तने वैसीही नवीन युवा (जवान) स्त्रीको लाकर राजपुत्रको सौंपी. फिर छिपकर कि, "यह क्या करेगा" यह देखने लगा. उस तुंगबलने उस युवा स्त्रीको विना छुए दूरसेही वसन, भूषण, सुगंध, चन्दन आदिसे पूजकर रक्षकको सौंपके भेज दिया. इसके पीछे वैश्यके पुत्रने यह देख विश्वास कर लोभासक्त हो अपनी स्त्री लावण्यवतीको लाय सौंपा. उस तुंगबलने उस हृदयकी प्यारी लावण्यवतीको पहचान संभ्रमसे उठ अति आलिंगन कर, आंखें मीच पलँगपर उसके संग

क्रीडा की. यह देख वैश्यपुत्र चित्रमें लिखेके नाईं इस करतूतिसे मूढ हो बडे दुःखको प्राप्त हुआ. इससे मैं कहता हूं कि–जैसा यह वृत्तांत हुआ, ऐसाही तेरा होगा, इत्यादि।

तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शंकमाना मन्थरमनुगच्छन्ति। ततः स्थले गच्छन्केनापि व्याधेन काननं पर्य्यटता मन्थरः प्राप्तः। प्राप्य तं गृहीत्वोत्थाप्य धनुषि बद्धा भ्रमणक्लेशात्क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं चलितः। अथ मृगवायसमूषिकाः परं विषादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः। ततो हिरण्यको विलपति–

इसके हितके वचनको तिरस्कार कर बडे भयसे मोहे हुएके समान मंथर उस जलाशयको छोड चल दिया. वे हिरण्यकादि स्नेहसे अनिष्टकी शंका करते मंथरके पीछे पीछे गये. तब वनमें विचरते किसी व्याधने पृथ्वीपर जाते हुए मंथरको पाया, पाकर उसे उठाके पकडकर धनुष्यमें बांध घूमता हुआ भ्रमण करनेके क्लेशसे भूंख प्याससे व्याकुल हो घरको चला तो मृग, काक, चूहे बडे दुःखी हो उसके पीछे पीछे चले. तब हिरण्यक रोने लगा।

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २२६ ॥

जबतक समुद्रके पारकी नाईं एक दुःखके अंतको नहीं पहुँचता, तबतक मेरे लिये दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है, क्योंकि, छिद्रों (हानि) में अनर्थ बहुत होते हैं ॥ २२६ ॥

स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति॥ २२७॥

स्वाभाविक मित्र भाग्यसेही होता है, वह अकृत्रिम मित्रताको आपत्तिमेंभी नहीं छोडता॥ २२७॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृग्मित्रे स्वभावजे॥२२८॥

पुरुषोंको जैसा विश्वास स्वाभाविक मित्रमें होता है, वैसा न मातामें, न स्त्रीमें, न सहोदर भाईमें और न पुत्रमें॥ २२८॥

इति मुहुर्विचिन्त्य 'अहो, दुर्दैवम्। यतः–

इस प्रकार वारंवार विचार कर कहा हाय! मैं मन्दभागी हूं। क्योंकि–

स्वकर्मसंतानविचेष्टितानि
कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि
जन्मान्तराणीव दशान्तराणि॥ २२९॥

अपने कर्मविस्तारसे चेष्टा उत्पन्न हुई शुभ और अशुभ जो कालान्तरमें प्राप्त होती उन अनेक दशाओंको अनेक जन्मोंके समान मैंने इसी संसारमें देखा॥ २२९॥

अथ वेत्थमेवैतत्।

अथवा यह ऐसाही होता है।

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम्।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्॥२३०॥

शरीर तो दुःखसे भरा है. संपत्ति आपत्तियोंका स्थान है, संयोग वियोगके साथ है, उत्पत्तिवान् सर्व वस्तु नाशवान् है॥२३०॥

पुनर्विमृश्याह–

'शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ २३१॥

सोच विचारकर फिर बोला–शोक और शत्रु-भयका रक्षक, प्रेम-विश्वासका पात्र 'मित्र' इस दो अक्षररत्नको किसने रचा है॥२३१॥

किं च ।

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम् ।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलास्ते
सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्॥२३२'

औरभी। जो मित्र नेत्रोंकी प्रीति, रसका स्थान है, चित्तको आनंद देनेवाला, सुख दुःखोंका पात्र है, उस मित्रका साथ हो सो दुर्लभ है. जो और मित्र हैं वे समृद्धिके समयमें द्रव्यकी इच्छासे व्याकुल हो सब जगह मिलते हैं; उनकी यथार्थताकी कसौटी विपत्ति है ॥ २३२ ॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह 'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्।' तावूचतुः–' सत्वरं यथाकार्यमुच्यताम्। ' हिरण्यको ब्रूते–' चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु । काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु । नूनमनेन लुब्धकेन तत्र कच्छपं परित्यज्य मृगमांसार्थिना सत्वरं गन्तव्यम् । ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि । संनिहिते लुब्धके भव-

द्भ्यां पलायितव्यम्।' चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टस्तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः। तत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश स मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय पलायितः। प्रत्यावृत्त्य लुब्धको यावत्तरुतलमायाति तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्-'उचितमेवैतन्ममासमीक्ष्यकारिणः। यतः-

ऐसे बहुतसे विलापकर हिरण्यकने चित्रांग और लघुपतनकसे कहा कि-जबतक यह व्याध वनसे न निकले, तबतक मंथरके छुडानेका यत्न करना चाहिये. वे दोनों बोले-शीघ्र कहिये कि क्या करना चाहिये? हिरण्यक बोला-कि, चित्रांग जलके पास जा अपनेको मुर्दकी समान दिखावे. कौवा उसपर बैठ चोंचसे कुछ कुरेदे तो निश्चय यह व्याघ्र कच्छपको छोड मृगके मांसकी इच्छा कर शीघ्र वहां जायगा, तो मैं मंथरके बंधनको काटूंगा. व्याधके पास आनेपर आप दोनों भाग जाइये. चित्रांग और लघुपतनकने शीघ्र जाय वैसाही किया. तब थके हुए व्याधने पानी पी, वृक्षके नीचे बैठे हुए (व्याध) ने उसी प्रकारका मृग देखा तो कैंची ले प्रसन्नमन हो मृगके पास चला. इस बीचमें हिरण्यकने आकर मंथरका बंधन काट डाला, वह कच्छप शीघ्र जलाशयमें घुस गया, वह मृग उस व्याधको पास आया हुआ देख उठ भागा. लौटकर जबतक व्याध वृक्षके नीचे आया, तो कच्छपको न देख सोचने लगा. कि-मुझ विना विचारकर करनेवालेको यही योग्य है. कारण कि-

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥२३३॥'

जो निश्चितको छोडकर अनिश्चितकी सेवा करता है उसके निश्चितभी नष्ट होते हैं और अनिश्चित तो नष्ट हैंही ॥ २३३ ॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटक प्रविष्टः । मन्थरादयः सर्वे त्यक्तापदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः ।

इसके पीछे यह अपने कर्मके दोषसे निराश हो कटकमें चला गया और मंथरादिक सब आपत्तिरहित हो अपने स्थानमें जा सुखपूर्वक रहने लगे.

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्–'सर्वं श्रुतवन्तः सुखिनो वयम् । सिद्धं नः समीहितम् ।' विष्णुशर्मोवाच–'एतावता भवतामभिलषितं संपन्नम् । अपरमपीदमस्तु–

इसके पीछे राजपुत्र आनंद हो बोले–कि, यह सब सुन हम सुखी हुए, हमारी इच्छा सिद्ध हुई. विष्णुशर्मा बोला–कि, आपका अभिलषित हुआ, तौभी यह और हो–

मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालभ्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चंद्रार्धचूडामणिः॥२३४॥'

इति हितोपदेशे मित्रलाभो नाम प्रथमः
कथासंग्रहः समाप्तः ॥ १ ॥

हे सज्जनो ! आप लोगोंको मित्रोंकी प्राप्ति हो, देश अच्छे प्रकार लक्ष्मीका आलंबन करें, राजालोग अपने धर्ममें स्थित रहकर पृथ्वीको पालें, पुण्यात्माओंके मनकी तुष्टिके लिये आपकी नीति नई स्त्रीके समान हो और मनुष्यका कल्याण चन्द्रार्धचूडामणि (जिनके माथेपर चन्द्रमा है) भगवान् महादेव करें ॥ २३४ ॥

मुरादाबादवास्तव्यव्रजरत्नभट्टाचार्यकृतभाषानुवादसहित हितोपदेशका मित्रलाभ समाप्त ॥ १ ॥

सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः–' आर्य, मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः । इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः । ' विष्णुशर्मोवाच–' सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः-

इसके पीछे राजपुत्र बोले–कि, हे श्रेष्ठ ! हमने मित्रलाभ तो सुना, अब सुहृद्भेद सुना चाहते हैं. विष्णुशर्मा बोला–अब सुहृद्भेद सुनो, जिसका प्रथम श्लोक यह है–

वर्धमानो महास्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥ '

वनमें सिंह और बैलका बढा हुआ महास्नेह अति लोभी पिशुन (चुगलखोर) गीदडने नष्ट कराया ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्–' कथमेतत् । ' विष्णुशर्मा कथयति–

राजपुत्र बोले–यह कैसे हुआ, विष्णुशर्मा बोला–

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्धमानो नाम वणिग्निवसति । तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव । यतः–

योग्य

दक्षिणके पथमें सुवर्णवती नाम नगरी है. वहां वर्द्धमान नाम वैश्य रहता था. उसके बहुत धन होनेपरभी दूसरे समृद्धिवान् भाइयोंको देख फिर धनवृद्धि करनेकी बुद्धि हुई. क्योंकि-

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥ २ ॥

नीचेको देखते हुए किसकी महिमा नहीं बढती ? और ऊपरको देखनेवाले सब दरिद्री होते हैं ॥ २ ॥

अपरं च ।

ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम् ।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

औरभी । जिसके पास बहुत धन है, ऐसा ब्रह्महत्याराभी मनुष्य पूज्य है. निर्धन (पुरुष) चन्द्रमाके तुल्यभी निर्मल वंशमें उत्पन्न हुआ तिरस्कार किया जाता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च ।

अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीणम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

औरभी । जैसे वृद्धपतिको स्त्री आलिंगन करनेकी इच्छा नहीं करती, ऐसेही अव्यवसायी, आलसी, प्रारब्धहीको मुख्य जाननेवाले, अत एव साहसहीन मनुष्योंको लक्ष्मी नहीं चाहती ॥ ४ ॥

किं च ।

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
संतोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

औरभी । आलस्य, स्त्रीसेवा अर्थात् स्त्रीके आधीन रहना, रोगी होना, जन्मभूमिमें प्रीति, संतोष और डर ये छः महत्त्वके नाश करनेवाले (दोष) हैं ॥ ५ ॥

यतः।

संपदा सुस्थितंमन्यो भवति स्वल्पयापि यः।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम्॥ ६॥

कारण कि—जो थोडीभी संपत्तिसे अपनेको सुस्थित माननेवाला होता है, मैं जानता हूं! कि, उसका भाग्य कृतकृत्य होकर उसकी उस संपत्तिकी वृद्धि नहीं करता अर्थात् संतोषीके धनकी वृद्धि नहीं होती॥ ६॥

अपरं च।

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम्॥ ७॥

और दूसरे। उत्साहरहित, आनंदहीन, निर्बल, शत्रुको आनंद देनेवाले ऐसे पुत्रको कभी कोई स्त्री उत्पन्न न करे॥ ७॥

तथा चोक्तम्—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात्।
रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत्॥ ८॥

जैसा कि कहाभी है। अप्राप्तकी इच्छा करे, प्राप्त हुएकी क्षयसे रक्षा करे, रक्षितको अच्छी प्रकार बढावे और बढे हुएको तीर्थ (सत्कर्मों) में लगावे॥ ८॥

यतो लब्धमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव। लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः। अपि च। अवर्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः।

---

१ ' निरामयं निरुत्साहम् ' इ. पा. २ ' इच्छेद्दण्डेन ' ३ ' प्रयत्न ४ ' वृद्धया ' ५ ' दानेषु ' ' पात्रेषु ' इ. पा.

क्योंकि—अप्राप्तकी इच्छा करते हुए धनके लगानेसे निश्चय धनकी प्राप्ति होती है और रक्षा न करनेसे प्राप्तभी निधि (खजाने) का आपही नाश हो जाता है और वह बढा हुआ धन थोडा व्यय (खर्च) किया हुआभी समय पाकर अंजन (सुरमे) के समान नष्ट हो जाता है और विना भोगा हुआ धन निष्प्रयोजनही है.

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

उस धनसे क्या ? जो न देता न खाता है, उस बलसे क्या ? जो शत्रुओंको नहीं बाधा देता, उस शास्त्रसे क्या ? जो धर्माचरण न करे और उस जीवसे क्या ? जो जितेन्द्रिय नहीं होता ॥ ९ ॥

यतः ।

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

क्योंकि—बूंद बूंद जल पडनेसे घडा भर जाता है, वही हेतु सब विद्या, धर्म और धनका है ॥ १० ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ११ ॥

जिसके दिन दान और भोगसे रहित व्यतीत होते हैं. वह कर्मकार (लुहार) की धौंकनीके समान श्वास लेता हुआभी नहीं जीता ॥ ११ ॥

इति संचिन्त्य नन्दकसंजीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः काश्मीरं प्रति । अन्यच्च ।

यह विचार नंदक, संजीवक नाम बैलोंको धुरेमें लगाय गाडीको अनेक प्रकारके द्रव्योंसे पूर्ण कर वाणिज्य (सौदागरी) के हेतु काश्मीरको चला. औरभी।

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम्।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १२ ॥

अंजन (सुरमे) का क्षय और वल्मीकका संचय देखकर दिनको दान, वेदपाठ और अन्य कर्मोंमें सफल करे (व्यर्थ न जाने दे) ॥ १२॥

यतः।

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १३॥

क्योंकि–समर्थोंको क्या बडा भार है ? पुरुषार्थियोंको क्या दूर है ? विद्वानोंको क्या परदेश है ? प्रिय बोलनेवालोंको कौन दूसरा है ?॥ १३॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये संजीवको भग्नजानुर्निपतितः। तमालोक्य वर्धमानोऽचिन्तयत्–

इसके अनन्तर उसके चलते २ सुदुर्गनाम महावनमें संजीवक जंघा टूट जानेसे गिर पडा. उसे देख वर्धमान विचारने लगा–

'करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः।
फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १४ ॥

नीतिका जाननेवाला इधर उधर व्यापार (पुरुषार्थ) करो, फिरभी इसका फल वही है, जो विधाताके मनमें स्थित है. (होनहार नहीं टलती) ॥ १४ ॥

किं तु।

विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम्।
तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम् १५

औरभी । विस्मय (आश्चर्य) सब प्रकार त्यागने योग्य है, क्योंकि यह सब कामोंका बाधक है, इसलिये विस्मय छोड सिद्ध करने योग्य वस्तुमें सिद्धि करे ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धुरि नियोज्य चलितः । ततः संजीवकोऽपि कथं कथमपि खुरत्रये भरं कृत्वोत्थितः । यतः–

यह विचार संजीवकको वहां छोड, फिर आप वर्धमान धर्मपुर नाम नगरमें गया और एक महाकाय बैलको ला धुरेमें जोडकर चला, तब संजीवकभी जैसे तैसे करके तीन टांगोंपर भार देकर उठा, क्योंकि–

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च ।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

समुद्रमें डूबे हुए, पर्वतसे गिरे हुए, सर्पके काटे हुएकेभी मर्मस्थलों (हड्डियोंके जोड) को आयु बचा लेती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १७ ॥

सैकडों बाणोंसे विंधा हुआ शरीरधारी अकाल (जब उसके मरणका समय न हो) में नहीं मरता और काल आनेपर कुशाकी नोंकसे छुआ हुआभी नहीं जीता ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १८ ॥

---

१ 'न प्राप्तकालो म्रियते' इ. पा. २ 'तृणाग्रेणापि' इ. पा.

मनुष्योंसे रक्षा न की हुई और प्रारब्धसे रक्षा की हुई वस्तु स्थिर रहती है और मनुष्योंसे रक्षा की हुई वस्तु और प्रारब्धसे मारी हुई वस्तु नष्ट होती है, स्वामिरहित वनमें छोडा हुआभी जीता रहता है और यत्नपूर्वक घरमें रक्खा हुआभी नहीं जीता ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारविहारं कृत्वाऽरण्यं भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति। तथा चोक्तम्-

फिर कुछ दिन पीछे संजीवक अपनी इच्छापूर्वक आहार विहार कर, वनमें घूमता हुआ प्रसन्न, पुष्ट शरीर, बलवान् हो गर्जने लगा, उस वनमें पिंगलक नाम सिंह अपनी भुजाओंसे प्राप्त किये राज्यसुखको भोगता हुआ वसता था. जैसा कहा है-

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

पराक्रमसे राज्य पानेवाले सिंहका न मृग अभिषेक (तिलक) करते हैं, न संस्कार करते हैं, उसकी स्वयमेव (आपही) मृगेन्द्रता (मृगोंका) स्वामित्व है ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वकमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा स चकितः परिवृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह-' सखे करटक

किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमवतिष्ठते ।' करटको ब्रूते–'मित्र दमनक, अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते । यदि तथा भवति तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम् । यतोऽनेन राज्ञा विनापराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम् ।

एक समय वह सिंह प्याससे व्याकुल हो पानी पीनेको जमुनाके किनारे गया, वहां उस सिंहने जो कभी पहिले न सुना था ऐसा वेसमयके बादलकी गर्जनाके समान संजीवकका शब्द सुना, उस शब्दको सुन चकित हो विनाही पानी पीये, लौटकर अपने स्थानमें आय यह क्या है ? ऐसे सोचता हुआ चुपचाप बैठ गया. उसे इस प्रकार उसके मंत्रिपुत्र–करटक दमनक गीदडोंने देखा. इस प्रकारका उसे देख, दमनकने करटकसे कहा–मित्र करटक ! क्यौं यह जलकी इच्छा करनेवाला स्वामी विना पानी पिये चकित हो मंद मंद स्थित है. करटक बोला–मित्र दमनक ! हमारे मतसे उसकी सेवाही नहीं की जाती. यदि ऐसा हो, तो हमें इस स्वामीकी चेष्टाको देखनेसे क्या ? क्यौं कि, इस राजाने विना अपराध, बहुत समयसे राज्यसेवा करते हुए हमको अनादर कर बडा दुःख दिया.

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥२०॥

सेवासे धनकी इच्छा करते हुए सेवकोंने जो किया उसे देखो; कि जो शरीरकी स्वतंत्रता थी, उसेभी मूर्खोंने हार दिया ॥ २० ॥

अपरं च ।

शीतवातातपक्लेशान्सहन्ते यान्पराश्रिताः ।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

औरभी-पराधीन (सेवक) जन जिन शीत, वायु, धूप, क्लेशोंको सहते हैं, बुद्धिमान् जन उसके एक अंशसेभी तपकरके सुखी हो सकता है ॥ २१ ॥

अन्यच्च ।

एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः ॥२२॥

औरभी-पराधीनतासे आजीविका न होनीही जन्मकी सफलता है, जो पराधीनताको प्राप्त हों वे यदि जीते हैं, तौ मरे कौन हैं ? अर्थात् पराधीनताही मरणके समान है ॥ २२ ॥

अपरं च ।

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥२३॥

औरभी-आ, जा, बैठ, उठ, बोल, चुप रह, काम कर, इस प्रकार धनी लोग आशाके आग्रहमें फँसे मांगनेवालोंसे क्रीडा करते हैं ॥ २३ ॥

किं च ।

अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

और कि-वेश्याओंकी समान मूर्खोंने धनलाभके लिये अपने आपही संस्कार कर कर अपने आपको परोपकारकेही निमित्त किया है ॥ २४ ॥

किं च ।

या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥२५॥

औरभी–जो स्वभावसे चपल और अपवित्रके ऊपरभी गिरती है, उस स्वामीकी दृष्टिको सेवक वडी मानते हैं ॥ २५ ॥

अपरं च ।

मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

औरभी–चुपचाप रहनेसे मूर्ख, चतुराईके वचन कहनेसे पागल या वकवादी, क्षमा करनेसे डरपोक, यदि सहन न करे तौ प्रायः अकुलीन, पास रहे तो ढीठ, जो सदा दूर रहे तो अप्रगल्भ कहलाता है, इस कारण सेवाधर्म वडा कठिन है, योगियोंकोभी अगम्य है ॥ २६ ॥

विशेषतश्च ।

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥२७॥'

और विशेषता यह है कि–उन्नातिके हेतु प्रणाम करता है, जीवनके लिये प्राणोंको छोडता है, सुखके हेतु दुःखी होता है, सेवकके सिवाय कौन मूर्ख है ॥ २७ ॥

दमनको ब्रूते–' मित्र, सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम् । यतः–

दमनक बोला–हे मित्र ! ऐसा विचार तौ मनमेंभी कभी न करना चाहिये । क्योंकि–

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

स्वामी लोग यत्नसे क्यौं न सेये जांय ? जो वे प्रसन्न हों तौ थोडेही समयमें मनोरथोंको पूर्ण कर देतें हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य ।

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसंपदः ।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी ॥ २९ ॥ '

और देखो–सेवाहीनोंको चामर, बडी संपत्तियां, ऊंचे दण्डवाला श्वेतछत्र और घोडे, हाथियोंकी सेना कहां है ॥ २९ ॥

करटको ब्रूते–'तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण । यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः । पश्य–

करटक बोला–तौभी इस व्यापारसे हमारा क्या प्रयोजन ? क्यों कि, अव्यापारोंमें व्यापार करना सब प्रकार छोडने योग्य है. देख–

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानरः ॥३०॥ '

जो मनुष्य अव्यापारोंमें व्यापार करना चाहता है, वह कील उखाडनेवाले वानरकी समान मरा हुआ पृथ्वीपर सोता है ॥ ३० ॥

दमनकः पृच्छति–' कथमेतत् । ' करटकः कथयति–

दमनकने पूछा–यह कैसे ? करटक बोला–

कथा ॥ १ ॥

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्तुमारब्धः । तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः । तत्र बलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः । एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः तत्र तस्य मुष्कद्वयं

लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम् । अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान् । आकृष्टे च कीलके चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि-'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि ॥

यह बात प्रसिद्ध है कि-मगधदेशमें धर्मारण्यके समीपकी भूमिमें शुभदत्त नाम कायस्थने धर्मशाला बनाना आरंभ किया. वहां आरेसे चिरे हुए एक स्तंभके कितनी दूर फटे हुए काष्ठके दो टुकडोंके बीचमें बढईने कीली गाढी, वहां एक बलवान् वानरोंका समूह खेलता हुआ आया, कालके भेजे हुएके समान एक वानर उस कीलको हाथोंसे पकड स्थित हुआ, वहां उसके लटकते हुए दोनों अण्डकोश दोनों काष्ठके टुकडोंके बीचमें जा घुसे. फिर उसने स्वभावकी चंचलतासे बडे यत्नसे वह कीली खींची, कीली खींचनेसे अण्डोंके पिचनेके कारण वह वानर मर गया. इससे मैं कहता हूं कि-अव्यापारोंमें व्यापार न करना चाहिये, इत्यादि.

दमनको ब्रूते-' तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं करणीयम् । ' करटको ब्रूते-'सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु । यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या । पश्य-

दमनक बोला-फिरभी सेवक स्वामीकी चेष्टा अवश्य देखे. करटक बोला-सर्व अधिकारोंमें नियुक्त (लगा हुआ) जो प्रधानमन्त्री हो, सो करे, क्योंकि, सेवकको पराये अधिकारका वर्णन किसी प्रकार न करना चाहिये. देखो-

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया ।
स विषीदति चीत्काराद्गर्दभस्ताडितो यथा ॥२१॥'

स्वामीके हितकी इच्छा करके जो पराये अधिकारकी चर्चा करता है, वह चिल्लानेसे मारे हुए गधेके समान दुःख पाता है ॥ ३१ ॥

दमनकः पृच्छति–'कथमेतत् ।' करटको ब्रूते–

दमनक पूछता है–यह कैसे ? करटक बोला–

कथा ॥ २ ॥

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः । स चाभिनववयस्कया वध्वा सह चिरं निधुवनं कृत्वा निर्भरमालिङ्ग्य प्रसुप्तः । तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः । तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति; कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति । अथ गर्दभः श्वानमाह–'सखे, भवतस्तावदयं व्यापारः । तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि ।' कुक्कुरो ब्रूते–'भद्र, मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या । त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि । यतोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति । तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः । यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति ।' गर्दभो ब्रूते–'शृणु रे बर्बर,

बनारसमें कर्पूरपटक नाम धोबी था, वह नवीन अवस्थावाली स्त्रीके साथ बहुत देरतक वार्ता कर अति आलिंगन कर सो गया, उस समय उसके घरका द्रव्य चुरानेको चोर घुसा. उसके आंगनमें एक गधा बंधा खडा था और एक कुत्ता बैठा था. गधा कुत्तेसे बोला–मित्र ! अब तेरा काम है, सो तू ऊंचा शब्द कर स्वामीको क्यों नहीं जगाता ? कुत्ता बोला भद्र ! मेरे कामकी चर्चा तू न कर, क्या तू नहीं जानता ? कि मैं उसके घरकी रक्षा रात दिन

करता हूं, जिसपरभी यह बहुत समयसे सुखी भूलकर मेरे कामोंको नहीं जानता, उसने अबभी मेरे भोजन देनेमें आदर कम कर रक्खा है. क्यों कि, विना भय देखे स्वामी सेवकोंका कम आदर करते हैं. गर्दभ बोला—सुन मूर्ख !

याचते कार्यकाले यः स किं भृत्यः स किं सुहृत् ।'

जो कामके समय मांगता है, वह कैसा सेवक है ? और कैसा मित्र है ?

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान्संभाषयेद्यस्तु[1] कार्यकाले स किं प्रभुः ॥३२॥

कुत्ता बोला—जो कामके समय सेवकोंसे बोले, वह कैसा स्वामी है ॥ ३२ ॥

यतः ।

आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः ॥३३॥'

कारण कि—आश्रितोंके पालनमें, स्वामीकी सेवामें, धर्मसेवनमें और पुत्र उत्पन्न करनेमें प्रतिनिधि नहीं होते ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयांस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागरिष्यति तन्मया कर्तव्यम् । यतः ।

तब गधा कोपसे बोला—अरे दुष्टबुद्धि ! तू बडा पापी है, जो विपत्तिमें स्वामीके काममें उपेक्षा करता है. अच्छा जिससे स्वामी जाग जाय, मैं वही उपाय करूंगा । क्योंकि ।

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया ॥ ३४ ॥'

---

१ 'यो न सम्भावयेद् भृत्यान्' इ. पा.

सूर्यको पीठसे सेवे, अग्निको उदरसे, स्वामीको सब भावसे और परलोकको मायारहित हो सेवे ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान् । ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास । तेनासौ पञ्चत्वमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि–' पराधिकारचर्चाम् 'इत्यादि ॥

ऐसे कह बडा चीत्कार शब्द किया, तब उस धोबीने उसके चिल्लानेसे जागकर और नींद टूटनेके क्रोधसे उठकर गधेको लकडीसे ऐसा मारा; कि जिससे वह गधा मर गया. इससे मैं कहता हूं कि–पराये अधिकारकी चर्चा न करे इत्यादि ।

'पश्य । पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः । स्वनियोगचर्चा क्रियताम् । (विमृश्य ।) किन्त्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम् । यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति । ' दमनकः सरोषमाह–' कथमाहारार्थी भवान्केवलं राजानं सेवते । एतदयुक्तमुक्तं त्वया । यतः–

देख, पशुका ढूंढनाही हमारा काम है, अपने कामका वर्णन करना चाहिये. (विचार कर) परंतु आज उस चर्चासे काम नहीं. क्योंकि, हम दोनोंका भक्षण किया हुआ शेष भोजन बहुत है. दमनक क्रोधसे बोला–क्या आप केवल भोजनहीके लिये राजाको सेवते हैं ? यह तूने अयोग्य कहा. क्योंकि–

सुहृदामुपकारकारणा-
द्विषतामप्यपकारकारणात् ।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ ३५ ॥

पण्डितजन मित्रोंका उपकार करनेके हेतु और शत्रुओंका अपकार करनेके हेतु राजाका आश्रय लेते हैं, केवल पेटको कौन नहीं भरता ? ॥ ३५ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति ॥३६॥

जिसके जीनेसे ब्राह्मण, मित्र और बंधु जीते हैं उसका जीना सफल है. अपने लिये कौन नहीं जीता ? ॥ ३६ ॥

अपि च ।

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु ।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ३७॥

औरभी । जिसके जीनेसे बहुत लोग जीते हैं, उसीका जीवन सत्य है. यों तौ कौवाभी क्या चोंचसे उदरपूरण नहीं कर लेता है ? ॥ ३७ ॥

पश्य ।

पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ३८॥

देखो । कोई मनुष्य पांच पुराणों (संख्या विशेष) से दासपनेको पाता है, कोई लाखोंसे कृती होता है, कोई लाखोंसेभी नहीं पाया जाता ॥ ३८ ॥

अन्यच्च ।

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते ॥३९॥

औरभी । समान मनुष्यजातिमें सेवकपन बडा निंदित है. उससेभी जो पहला नहीं, वह क्या जीते हुओंमें गिना जाता है ? ॥ ३९ ॥

तथा चोक्तम्–

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम् ।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ ४० ॥

और यों कहा है–घोडा, हाथी, लोहा, काष्ठ, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जल इनमें जो अन्तर है वह महा (वडा) अन्तर है ॥४०॥

तथाहि । स्वल्पमप्यतिरिच्यते ।

यों तो थोडाभी बहुत होता है ।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वांछति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ४१

थोडे स्नायु मेदोंसे कुछ मलिन, मांसरहित हड्डीकोभी पाकर कुत्ता संतोषको प्राप्त होता है, यद्यपि उससे उसकी क्षुधाकी शांति नहीं होती, सिंह पास आये हुए गीदडकोभी छोडकर हाथीको मारता है. सब मनुष्य कठिनता प्राप्त होनेपरभी अपने बलके समान फलको चाहते हैं ॥ ४१ ॥

अपरं च । सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य ।

औरभी–सेव्य-सेवकोंका अन्तर देखो ।

लांगूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

पूंछ हिलाना, नीचे पैरोंमें गिरना, भूमिमें गिर मुख और पेट दिखाना, यह काम कुत्ता टुकडे देनेवालेके सामने करता है, परंतु

उत्तम हाथी धीरेसे देखता और सौ लल्लोपत्तोंसे खाता है ॥ ४२ ॥

किं च ।

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ४३

औरभी । जो मनुष्योंका क्षणमात्रभी मनुष्योंमें प्रख्यात हो विज्ञान, पराक्रम, यशसहित जीवन है. तत्वके जाननेवाले इस संसारमें उसीका नाम जीना कहते हैं. यों तो कौवाभी बलिको खाता और बहुत समयतक जीता है ॥ ४३ ॥

अपरं च ।

यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुङ्क्ते४४

औरभी । जो पुत्र, गुरु, सेवकों, दीनों और बंधुओंमें दया नहीं करता है. उसके मनुष्यलोक (संसार) में जीनेसे क्या लाभ है ? यों तो कौवाभी बलिको खाता और बहुत समयतक जीता है ॥ ४४ ॥

अपरमपि ।

अहिताहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमये बहुभिस्तिरस्कृतस्य ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥ ४५ ॥'

औरभी। अहित, हितका जिसमें विचार न हो, शास्त्रीय चर्चामें बहुतोंके द्वारा जिसका अनादर किया गया हो, केवल पेट भरनेमात्रही जिसकी इच्छा है ऐसे पुरुषरूप पशुमें और पशुमें क्या विशेषता है ? ॥ ४५ ॥

करटको ब्रूते-'आवां तावदप्रधानौ। तदाप्यावयोः किमनया विचारणया।' दमनको ब्रूते-'कियता कालेनामात्याः प्रधानतामप्रधानतां वा लभन्ते। यतः-

करटक बोला-एक तो हम दोनों अभी अप्रधान हैं, तो फिर हम दोनोंको इस विचारसे क्या ? दमनक बोला-कितने समयमें मंत्री प्रधानता वा अप्रधानताको पाते हैं ? क्योंकि-

न कस्याचित्काश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा।
लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४६ ॥

इस संसारमें कोई किसीके स्वभावसे उदार अथवा खल नहीं समझा जाता. संसारमें बडेपन अथवा ओछेपनको अपने कर्महीं मनुष्यको ले जाते .. ॥ ४६ ॥

किं च।

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

क्योंकि-जैसे पहाडके ऊपर बडे यत्नसे शिला चढाई जाती है और क्षणमात्रमें नीचे गिराई जाती है, वैसेही जीव गुणदोषोंमें नीचे गिराया जाता वा ऊपर पहुँचाया जाता है ॥ ४७ ॥

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपने कर्मानुसारही कुएके खोदनेवालेके समान नीचे जाता और दीवार बनानेवालेके समान ऊपर जाता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य । 'करटको ब्रूते-'अथ भवान्किं ब्रवीति ।'स आह-'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः कुतोऽपि कारणात्सचकितः परिवृत्योपविष्टः ।' करटको ब्रूते-' किं तत्त्वं जानासि ।' दमनको ब्रूते-' किमविदितमस्ति प्रज्ञावताम् । उक्तं च ।

सो भद्र, यहही कहे कि, अपने यत्नके आधीन सबकी आत्मा है. करटक बोला-फिर आप क्या कहते हैं ? वह बोला-अब यह स्वामी पिंगलक तो किसी कारणसे चकित हो फिर आकर बैठा है. करटक बोला-सो क्या तू तत्व बात जानता है ? दमनक बोला-बुद्धिमानोंको क्या अज्ञात है ? कहा है कि-

न यत्रास्ति गतिर्वायो रश्मीनां च विवस्वतः ।
तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा ॥ ४९ ॥

जहां पवन और सूर्यकी किरणोंकीभी पहुँच नहीं है, बुद्धिमानोंकी बुद्धि ऐसे (दुर्गम) स्थानोंमेंभी सदा तत्काल प्रविष्ट हो जाती है ॥ ४९ ॥

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ५० ॥

कहे हुए अभिप्रायको पशुभी ग्रहण करते (समझ लेते) हैं, घोडे और हाथीभी सिखाये जानेपर (बोझ) ले जाते हैं, पंडितजन विना कहे समझ लेते हैं, क्यों कि, दूसरेकी चेष्टाओंका जाननाही बुद्धियोंका फल है ॥ ५० ॥

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ ५१॥

आकार (सूरत), इंगित (ईशारे), गति (चाल), चेष्टा (उद्योग), भाषण (बातचीत), नेत्र और मुखके विकारसे मनके भीतरकी बात जान ली जाती है॥ ५१॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि यतः-

इस भयके प्रसंगमें बुद्धिबलसे मैं इस स्वामीको अपना हितू बना लूंगा क्योंकि-

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ५२॥'

जो व्यक्ति प्रसंगके अनुकूल वाक्य सच्चे प्रेमके समान प्रिय आचरण करना और अपनी सामर्थ्यके समान क्रोध करना जानता है सो पण्डित है॥ ५२॥

करटको ब्रूते-'सखे, त्वं सेवानभिज्ञः। पश्य।

करटकने कहा-मित्र! तुम सेवाकी विधि नहीं जानते। देखो!

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः॥५३॥'

जो विना बुलाये आवे, विना पूछे बोले और अपनेको राजाका प्रिय जाने, वह सेवक दुर्बुद्धि है॥ ५३॥

दमनको ब्रूते-'भद्र, कथमहं सेवानभिज्ञः। पश्य।

दमनक बोला-महाशय! मैं सेवाविधिसे अनजान कैसे हूं? देखो!

---

१ 'प्रविशति' २ 'अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः।' इ. पा. म. भा.

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाप्यसुन्दरम् ।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५४ ॥

कोई वस्तु स्वभावसे सुन्दर वा असुन्दर नहीं है ? जो जिसे रुचता है, उसके लिये वही सुन्दर है ॥ ५४ ॥

यतः ।

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५५ ॥

क्योंकि—जिस जिसका जो जो भाव है उसी उस (भाव) से उस मनुष्यसें मिलकर, बुद्धिमान्को चाहिये शीघ्र (उसे) अपने वशमें ले आवे ॥ ५५ ॥

अन्यच्च ।

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५६ ॥

औरभी । यहां कौन है (ऐसे पूंछनेपर) "मैं हूं" "दयाकरके आज्ञा करो," ऐसा कहे, राजाकी आज्ञाको यथाशक्ति व्यर्थ न करना चाहिये ॥ ५६ ॥

अपरं च ।

अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥५७॥'

औरभी । जो थोडी इच्छा करनेवाला, धैर्यवान्, ज्ञानी, सदा छायाकी समान पीछे २ चलनेवाला हो और जो राजासे आज्ञा पानेपर आगा पीछा कुछ न विचारे वह राजाके घरमें वसे ॥ ५७ ॥

करटको ब्रूते—'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी'। स चाह—'अस्त्वेवम् । तथाप्यनुजीविना स्वामिसांनिध्यमवश्यं करणीयम् । यतः—

करटक बोला-कभी कुसमय तुम्हारे जानेसे स्वामी अपमान करे ? वह बोला-ऐसा हो, तोभी सेवकको स्वामीके समीप अवश्य जाना चाहिये. क्योंकि-

दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद् भ्रातर्भोजनं परिहीयते ॥ ५८ ॥

दोषके भयसे आरंभ न करना यह छोटे मनुष्योंका लक्षण है, हे भाई ! अजीर्णके भयसे भोजन करना कौन छोड़ देता है ॥५८॥

पश्य ।

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंगतं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति ॥ ५९ ॥

देखो ! राजा पास रहनेवाले मनुष्यसे प्रसन्न रहता है, चाहें वह (मनुष्य) विद्यारहित, कुलीनतारहित या संगरहितभी हो. प्रायः राजा लोग, स्त्रियें और वेल जो पास होता है, उसीको लिपटती हैं ॥ ५९ ॥

करटको ब्रूते-'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान् ।' स आह-'शृणु, किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि ।' करटको ब्रूते-'किं तज्ज्ञानलक्षणम् ।' दमनको ब्रूते-'शृणु ।

करटक बोला-वहां जाकर आप क्या कहेंगे ? वह बोला-सुन, स्वामी मेरे प्रति अनुरक्त है या विरक्त यह जानूंगा । करटक बोला-इसके जाननेका क्या लक्षण है ? दमनक बोला-सुनो !

दूरादवेक्षणं हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम् ।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ६० ॥

दूरसे देखना, हँसना, कुशल पूछनेमें बहुत आदर दिखाना, पीछेभी गुणकी श्लाघा करना, प्रियवस्तुकी प्राप्तिमें याद करना ॥ ६० ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम्।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ६१ ॥

सेवा न करनेपरभी अनुराग करना, प्रिय भाषणके साथ दान देना, दोष होनेपरभी गुणसंग्रह करना ये (स्वामीके) अनुरक्त होनेके लक्षण हैं ॥ ६१ ॥

अन्यच्च।

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम्।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ६२ ॥

औरभी–समय बिताना, आशाओंको बढाकर समय टालना, फलका खण्डन करना, बुद्धिमान्को ये सब प्रतिकूल स्वामीके चिह्न जानने चाहिये ॥ ६२ ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति तथा करिष्यामि। यतः–

यह सब जानकर वह जैसे मेरे आधीन होगा वैसा करूंगा. क्योंकि–

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६३ ॥

बुद्धिमान् नीतिकी विधिसे युक्त अपाय (दुःख) से उत्पन्न विपत्ति और उपायसे उत्पन्न सिद्धिको पहलेहीसे आगे झलकती हुईसी दिखला देते हैं ॥ ६३ ॥

कटरको ब्रूते-'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि । यतः-

करटक बोला-तोभी प्रसंग न चलनेपर तुम्हें बोलना न चाहिये. क्योंकि-

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम् ॥ ६४ ॥'

कहनेका समय न पाकर कहते हुए बृहस्पतिजीभी निरंतर बुद्धिकी अवज्ञा और अनादरको सदा पाते हैं ॥ ६४ ॥

दमनको ब्रूते-' मित्र, माभैषीः । नाहमप्राप्तावसरं वचनं वदिष्यामि । यतः-

दमनक बोला-कि, मित्र ! मत डरो मैं वेसमय कोई वाक्य न बोलूंगा, कारण कि-

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६५ ॥

हितकी इच्छा करनेवाले सेवकको आपत्तिमें, कुमार्ग चलनेमें और कामका समय व्यतीत होनेमें वेपूछेभी कहना चाहिये ॥ ६५ ॥

यदि च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममानुपपन्नम् । यतः-

और जो समयपरभी मैं मंत्र (सलाह) न कहूं, तो मेरा मंत्री होनाही अनुचित है. क्योंकि-

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेऽपि गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च ॥ ६६ ॥

जिस गुणसे वृत्ति (आजीविका) की कल्पना करता है और जिससे संसारमें श्रेष्ठोंके द्वारा प्रशंसा पाता है, उस गुणको वह गुणी रक्षा करे और वढावे ॥ ६६ ॥

---

१ ' अपृष्टोऽपि हितान्वेषी ब्रूयात् कल्याणभाषितम् । ' इ. पा.

तद्भद्र, अनुजानीहि माम् । गच्छामि ।' करटको ब्रूते–'शुभमस्तु । शिवास्ते पन्थानः । यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्' इति ।

इस कारण हे महाशय ! मुझे आज्ञा दो मैं जाता हूं। करटक बोला–तुम्हारा मंगल हो, तुम्हारा मार्ग कल्याणकारी हो। अभिलषित कार्यकी सिद्धिका सम्पादन करो।

गम्यतामर्थलाभाय क्षेमाय विजयाय च ।
शत्रुपक्षविनाशाय पुनरागमनाय च ॥ ६७ ॥'

जाओ धनकी प्राप्ति, विजय और शत्रुपक्षका विनाश कर फिर कुशलपूर्वक लौटनेके लिये जाओ ॥ ६७ ॥

ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः । अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणिपत्योपविष्टः । राजाह–'चिराद्दृष्टोऽसि ।' दमनको ब्रूते–'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किंचित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सांनिध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि । किं च–

इसके अनन्तर दमनक विस्मितसा हो पिङ्गलकके निकट गया। इसे दूरहीसे आदरपूर्वक राजाने प्रवेश कराया (अर्थात् राजसभामें बुलवाया) वह साष्टाङ्गप्रणाम कर बैठ गया। राजा बोला-तुम्हें बहुत दिन पीछे देखा. दमनक बोला–यद्यपि मुझ सेवकसे आपका कुछ प्रयोजन नहीं है. तोभी समयपर सेवकको अवश्य समीप आना चाहिये, इसलिये मैं आया हूं. कारण कि–

---

१ जानुभ्यां च तथा पद्भ्यां पाणिभ्यामुरसा धिया । शिरसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टांग ईरितः ॥ अर्थात्–जानु पैर, हाथ, हृदय, बुद्धि, शिर, वचन और दृष्टिसे किया प्रणाम साष्टांग प्रणाम कहाता है ॥

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन्
कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां
किमङ्गवाक्पाणिमता नरेण॥ ६८॥

हे राजन्! दांतके कुरेदने और कानके खुजानेके हेतु ईश्वरों (धनियों) काभी तृणसे कार्य होता है तो अंग, वाणी हाथवाले मनुष्यसे क्या (नहीं होवेगा)?॥ ६८॥

यद्यपि चिरेणावधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः शङ्क्यते, तदपि न शङ्कनीयम्। यतः-

यद्यपि आपके द्वारा बहुत समयसे मुझ अनादर किये हुएकी बुद्धि नष्ट हो जानेकी आप शंका करते होंगे सो यह शंका न करनी चाहिये. क्योंकि-

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-
र्बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः।
अधः कृतस्यापि तनूनपातो
नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥ ६९॥

धीरज रखनेवालेका निरादर होनेपरभी उसकी बुद्धिके विनाशकी शंका न करनी चाहिये, क्योंकि-नीचे की हुईभी अग्निकी शिखा नीचे कभी नहीं जाती॥ ६९॥

देव, तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम्। यतः-

हे देव! इसलिये स्वामीको सर्वथा विशेष ज्ञानवान् होना चाहिये। क्योंकि-

मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते।
यथैवास्ते तथैवास्तां काचः काचो मणिर्मणिः॥७०॥

चाहे मणि पैरोंमें लोटे और कांच शिरपर धारण किया जाय तौभी वह जैसा है वैसाही है. अर्थात्–काच काचही है, मणि मणिही है ॥ ७० ॥

अन्यच्च ।

निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते ।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ७१ ॥

औरभी–जब राजा विशेष ज्ञानरहित हो सबमें एकसा वर्त्ताव करता है, तो उद्योगियोंका उत्साहभी नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

किंच ।

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७२ ॥

औरभी । हे राजन् ! श्रेष्ठ, नीच, मध्यम ये तीन प्रकारके पुरुष होते हैं, अत एव इनको तीन प्रकारहीके कामोंमें लगावे ॥ ७२ ॥

यतः ।

स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७३ ॥

क्योंकि–भृत्य और आभूषण स्थानहीमें लगाये जाते हैं, चोटीकी मणि पैरमें और पैरका भूषण (पायजेब) शिरपर नहीं धरा जाता है ॥ ७३ ॥

अपि च

कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
न स विरौति न चापि विशोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७४ ॥

औरभी। सोनेके भूषणमें लगाने योग्य मणि जो रांगेमें जडी जाय, तो वह रोदन नहीं करती किन्तु शोभाभी नहीं देती है. केवल जडनेवालेकी निन्दा होती है ॥ ७४ ॥

अन्यच्च।

मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः।
न हि दोषो मणेरस्ति किं तु साधोरविज्ञता ॥ ७५ ॥

औरभी। यदि काच मुकुटमें जड दिया जाय और चरणके आभूषणमें मणि लगा दी जाय तौ मणिका दोष नहीं है, किन्तु लगानेवालेका अज्ञान है ॥ ७५ ॥

पश्य।

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम्।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ७६ ॥

देखिये ! यह बुद्धिमान् है, यह अनुरागी है, यह शूर है, इससे भय है, ऐसे भृत्यके विचारको जाननेवाला राजा सेवकोंसे पूर्ण होता है ॥ ७६ ॥

तथा हि।

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ७७

कारण यह है कि–घोडा, हथियार, शास्त्र, वीणा, वाणी, मनुष्य और स्त्री ये विशेष पुरुषको पाकर योग्य और अयोग्य हो जाती हैं ॥ ७७ ॥

अन्यच्च।

किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७८ ॥

---

१ '०मिहोभयगुणो जनः' इ. पा. २ सब प्रकारके वाद्य।

औरभी । असमर्थ भक्त (सेवक) और अपकारी सामर्थ्यवान्से क्या ? हे राजन् ! मुझ भक्त और सामर्थ्यवान्का अपमान आपको न कराना चाहिये ॥ ७८ ॥

यतः ।

अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः
ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ७९॥

क्योंकि–राजाके अपमान करनेसे सेवक बुद्धिहीन हो जाते हैं, इसलिये उसके प्रमाणसे पण्डितजन राजाके समीप नहीं रहते और पण्डितोंसे छोडे हुए राज्यमें नीति गुणवाली नहीं होती और बुरी नीतिमें सारा जगत् शासनरहित हो दुःख पाता है ॥ ७९ ॥

अपरं च ।

जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।
नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ८० ॥

और देखिये महाराज ! राजासे पूजे हुए जनको सब जन नित्य पूजते हैं और राजासे अपमान किये हुएका सब अपमान करते हैं ॥ ८० ॥

किं च ।

बालादपि गृहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ॥ ८१ ॥'

औरभी । बुद्धिमान्को चाहिये कि यदि उचित हो तो बालकके कथनकोभी ठीक माने, क्योंकि–सूर्यके न होनेमें क्या दीपकका प्रकाश नहीं होता ? ॥ ८१ ॥

---

१ 'प्राज्ञो.' २ 'अन्यत्तृणमिव त्याज्यं यदुक्तं पद्मयोनिना ।' इ. पा.

पिङ्गलकोऽवदत्–'भद्र दमनक, किमेतत्। त्वमस्मदीयप्रधानामात्यपुत्रः सुधीरियन्तं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि। इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि।' दमनको ब्रूते–'देव, पृच्छामि किंचित्। उच्यताम्। उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित इव तिष्ठति।' पिङ्गलकोऽवदत्–'भद्रमुक्तं त्वया। किंत्वेतद्रहस्यं वक्तुं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति। तथापि त्वं तथाविधः, अतश्च निभृतं कृत्वा कथयामि। शृणु। संप्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम्। अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि। तथा च श्रुतो त्वयापि महानपूर्वशब्दः। शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम्।' दमनको ब्रूते–'देव, अस्ति तावदयं महान्भयहेतुः। स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः। किं तु स किं मन्त्री यः प्रथमं भूमित्यागं पश्चाद्युद्धं चोपदिशति। देव अस्मिन्कार्यसंदेहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः। यतः–

पिंगलक बोला–भद्र दमनक! यह क्या? तू मेरे प्रधान मंत्रीका पुत्र है, इस समयतक किसी दुष्टके वचनसे नहीं आया, अब जैसी इच्छा हो सो वर्णन कर. दमनक बोला–हे देव! कुछ पूछता हूं. आप कहिये, जलकी इच्छा करनेवाले आप पानी न पीकर क्यों ऐसे विस्मययुक्तके समान बैठे हो? पिंगलक बोला–तूने ठीक कहा, परंतु इस रहस्य (एकांतमें कहने योग्य) के कहनेको कोई विश्वासका पात्र नहीं है. तौभी तू वैसा है अत एव छिपाकर

कहता हूं, सुन. अब इस वनमें कोई अपूर्व जंतु आया है. इसलिये हमको यह वन छोडना योग्य है. इस हेतुसे मैं विस्मित हूं. तुमनेभी बडा अपूर्व शब्द सुना है ! शब्दके समान वह प्राणी महाबली होगा, दमनक बोला—हे देव ! यद्यपि सत्यही यह बडा भयका हेतु है. हमनेभी वह शब्द सुना, परंतु, वह क्या मंत्री है ! जो पहलेही पृथ्वी छोडने अथवा युद्ध करनेका उपदेश दे. इस संदेहकार्यमें सेवकोंकी योग्यता जाननी चाहिये । कारण कि—

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ८२ ॥'

बंधु, स्त्री, सेवकों, बुद्धि और अपने बलकी सारताको मनुष्य आपत्तिकी कसौटीके पत्थरसे परखता है ॥ ८२ ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र, महती शङ्का मां बाधते ।' दमनकः पुनराह स्वगतम्—' अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथ मां सभाषसे । ' प्रकाशं ब्रूते—' देव, यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम् । किंतु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्ताम् । यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवायः । '

सिंह बोला—भद्र ! मुझे यही बडी शंका बाधा देती है. दमनकने फिर अपने मनमें कहा—नहीं तौ राजसुखको छोड दूसरे स्थानको जानेको मुझसे क्यौं कहते ? प्रकाशकरके बोला—देव ! जबतक मैं जीता हूं, तबतक भय न कीजिये. परंतु करटकादिकोंकोभी बुलाइये, जिससे कि, आपत्तिके दूर करनेके समय हितू पुरुषोंका मिलना दुर्लभ है.

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ । करटको गच्छन्दमन-

कमाह-'सखे, किं शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः । यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः । पश्य-

तब राजाने उन दमनक-करटकोंका सब प्रकार सत्कार किया, तब वे भयके दूर करनेके उपायकी प्रतिज्ञा करके चले. करटक जाता हुआ दमनकसे बोला-मित्र ! भयके हेतुका उपाय हो सकेगा या नहीं, यह न जानकर भयके शांति करनेकी प्रतिज्ञा करके कैसे वह बडा प्रसाद ग्रहण किया क्यों कि, उपकार विना किये किसीकी भेंट न ले. विशेषकरके राजाकी तो कदापि न ले. देखो-

यस्य प्रसादे पद्मास्ते विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ८३ ॥

जिसके प्रसादमें लक्ष्मी, पराक्रममें विजय, क्रोधमें मृत्यु रहती है, उसे सर्वतेजोमय जानना चाहिये ॥ ८३ ॥

तथा हि ।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८४ ॥'

औरभी । राजा चाहे बालकभी हो तथापि सामान्य मनुष्यकी सदृश उसका अनादर न करे. क्योंकि यह राजा नररूपमें कोई बडा देवता होता है । अथवा मनुष्योंमें बालककाभी अपमान न करना चाहिये. फिर वह तो राजा है, क्योंकि, यह (राजा) बडा देवता मनुष्यरूपमें रहता है ॥ ८४ ॥

दमनको विहस्याह-' मित्र, तूष्णीमास्यताम् ज्ञातं मया भयकारणम् । बलीवर्दनार्दितं तत् । वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः । किं पुनः सिंहस्य । 'करटको ब्रूते-

'यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति नापनीतः।' दमनको ब्रूते-'यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्। अपरं च-

दमनक हँसकर बोला-मित्र ! चुप रहो, मैंने भयका हेतु जान लिया है, वह बैलका शब्द है और बैलोंको हमभी खा सकते है तो क्या सिंह न खा सकेगा ? करटक बोला-जो ऐ तो फिर स्वामीका भय वहांही क्यौं न दूर किया ? दमनक बोला-जो स्वामीका भय वहांही दूर किया जाता तो कैसे इस बडे प्रसादका लाभ होता ? और कहाभी है-

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत्॥ ८९॥'

सेवक स्वामीको प्रयोजनरहित कभी न करे, स्वामीको निश्चिन्त करके सेवक दधिकर्णकी समान हो जाता है॥ ८९॥

करटकः पृच्छति-'कथमेतत्।' दमनकः कथयति-

करटकने पूछा-यह कैसे ? दमनकने कहा-

कथा॥ ३॥

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः। तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मूषिकः प्रत्यहं छिनत्ति। ततः केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तरगतं मूषिकमलभमानोऽचिन्तयत्-'किं विधेयमत्र भवति। अथवा एवं श्रूयते-

उत्तरकी ओर अर्बुद शिखरनाम पहाडपर दुर्दांतनाम बडा पराक्रमवान् सिंह है. उस पर्वतकी गुफामें सोते हुए (सिंह) के बालोंके अग्रभागको कोई चूहा प्रतिदिन काटता था. तो बालके अग्रभाग (केसर) को कटा हुआ देख वह सिंह क्रोधमें भर

बिलके भीतर गये चूहेको न पाकर सोचने लगा–इस विषयमें क्या करना कर्त्तव्य है ? अथवा ऐसा सुना है–

क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते।
तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः॥८६॥'

जो छोटा शत्रु हो और वह पराक्रमसे नहीं मारा जाय, तो उसके मारनेको उसीके समान सैनिक रखना चाहिये॥८६॥

इत्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा बिडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः। अनन्तरं तद्भयान्मूषिकोऽपि बिलान्न निःसरति। तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति। मूषिकशब्दं यदा यदा शृणोति तदा तदा मांसाहारदानेन तं बिडालं संवर्धयति।

यह सोच उसने गांवमें जा, विश्वास उत्पन्न कर, दधिकर्ण नाम (बिलाव) को यत्नसे लाकर, मांसका भोजन दे, अपनी गुफामें रक्खा. इसके पीछे उसके भयसे चूहाभी बिलसे न निकलता था, इस कारण, यह सिंह बाल कटनेके दुःखसे छूट सुखसे सोने लगा, जब जब चूहेका शब्द सुनता, तब तब मांसभोजन दे बिलावको प्रसन्न करता था.

अथैकदा स मूषिकः क्षुधापीडितो बहिः संचरन्बिडालेन प्राप्तो व्यापादितश्च। अनन्तरं स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषिकं न पश्यति तत्कृतरावमपि न शृणोति तदा तस्यानुपयोगाद्बिडालस्याप्याहारदाने मन्दादरो बभूव। ततोऽसावाहारविरहाद्दुर्बलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि–' निरपेक्षो न कर्तव्यः ' इत्यादि।

इस पीछे एक समय वह चूहा भूंखसे दुःखी हो बाहर फिरता बिलावको मिला और उससे मारा गया. इसके पीछे उस सिंहने बहुत समयतक चूहेको न देखा, न उसका शब्द सुना, तो उस (चूहे) के समीपमें न होनेसे बिलावकोभी भोजन देनेमें कम सन्मान किया तो यह दधिकर्ण (बिलाव) भोजन न मिलनेसे दुःखित हुआ, इससे मैं कहता हूं कि स्वामीको प्रयोजनरहित न करना चाहिये, इत्यादि।

ततो दमनककरटकौ संजीवकसमीपं गतौ। तत्र करटकस्तरुतले साटोपमुपविष्टः।

इस पीछे दमनक और करटक संजीवकके पास गये, करटक वहां वृक्षके नीचे गर्वसहित बैठा.

दमनकः संजीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्–'अरे वृषभ, एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः। सेनापतिः करटकः समाज्ञापयति–' सत्वरमागच्छ। न चेदस्मदरण्याद्दूरमपसर। अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति।' न जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति।' तच्छ्रुत्वा संजीवकश्चायात्। यतः–

दमनक संजीवकके निकट जाकर बोला–अरे बैल! मुझे राजा पिंगलकने वनकी रक्षाके अर्थ नियत किया है, वह सेनापति करटक आज्ञा करता है कि, शीघ्र आ, नहीं तो हमारे वनसे दूर जा, नहीं तो तुम्हें बुरा फल प्राप्त होगा. न जाने, स्वामी क्रोध कर क्या करें? यह सुन संजीवकभी आया. क्योंकि–

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः।
पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः॥ ८७॥

राजाओंकी आज्ञा न मानना, ब्राह्मणोंका अनादर करना,

स्त्रियोंकी शय्या अपनेसे पृथक् रखना, ये विना शस्त्रके किये हुए वध (आत्मघात) हैं ॥ ८७ ॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान् । तथा चोक्तम्-

तब देशके व्यवहारको न जाननेवाले संजीवकने भयसे पास जाय, करटकको साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया, जैसा कहा है-

मतिरेव बलाद्गरीयसी
यदभावे करिणामियं दशा ।
इति घोषयतीव डिण्डिमः
करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन् ॥ ८८ ॥

बलसेभी बुद्धिही बडी है, जिसके न होनेसे हाथियोंकी यह दशा है, यह बात हाथीवान्के बजाये हाथीके शब्दायमान नगाडे-मेंसे मानो उच्चारण होती है ॥ ८८ ॥

अथ संजीवकः साशङ्कमाह-' सेनापते, किं मया कर्तव्यम् । तदभिधीयताम् ।' करटको ब्रूते-' वृषभ, अत्र कानने तिष्ठसि । अस्मद्देवपादारविन्दं प्रणम ।' संजीवको ब्रूते-' तदभयवाचं मे यच्छ । गच्छामि ।' करटको ब्रूते-' शृणु रे बलीवर्द, अलमनया शङ्कया । यतः-

फिर संजीवक डरते डरते बोला-हे सेनापति ! मैं क्या करूं ? सो कहिये. करटक बोला-हे बैल ! इस वनमें रहे तो हमारे स्वामी-के चरणकमलोंको प्रणाम कर. संजीवक बोला-जो मुझे अभय-दान दो तो चलता हूं. करटक बोला-सुन, रे बैल ! यह शंका मत कर. कारण कि-

प्रतिवाचमदत्त केशवः
शपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुंकुरुते घनध्वनिं
नहि गोमायुरुतानि केसरी ॥ ८९ ॥

श्रीकृष्णने दुर्वाक्य कहते हुए चंदेरीके राजा शिशुपालको उत्तर न दिया, सिंह बादलकी ध्वनिपर गर्जता है. गीदडके चिल्लानेपर नहीं ॥ ८९ ॥

अन्यच्च ।

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम् ॥ ९० ॥'

औरभी सब प्रकार नीचेको नवे हुए कोमल तृणोंको आंधी नहीं उखाडती. ऊंचे वृक्षोंकोही पीडा देती है, बडे बडोंहीके ऊपर पराक्रम करते हैं ॥ ९० ॥

ततस्तौ संजीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ । ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ । राजाह—'त्वया स दृष्टः ।' दमनको ब्रूते—'देव, दृष्टः । किंतु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा । महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति । किंतु महाबलोऽसौ ततः सज्जीभूयोपविश्य दृश्यताम् । शब्दमात्रादेव न भेतव्यम् । तथा चोक्तम्—

इसके अनन्तर दोनों संजीवकको कुछ दूर ठहराकर पिंगलकके

पास गये तौ राजासे सन्मानपूर्वक देखे जाकर प्रणाम करके बैठ गये। राजा बोला-तुमने उसे देखा ? दमनक बोला-देव! देखा, परंतु जो आपने जाना था सो ठीक है, सत्यही यह वडा हे, आपके दर्शनकी इच्छा करता है परंतु यह महाबली है. सो तैय्यार हो बुलाकर देखिये, किन्तु उसके शब्दमात्रसे डर न जाइये। जैसा कहा है-

शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम्।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता ॥ ९१ ॥'

शब्दका हेतु विना जाने केवल शब्दमात्रसे डर न जाना चाहिये, शब्दका हेतु जानकर कुट्टनीने गौरवता पाई थी ॥ ९१ ॥

राजाह-'कथमेतम्।' दमनकः कथयति-

राजा बोला-यह कैसा ? दमनक बोला-

कथा ॥ ४ ॥

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम्। तच्छिखरप्रदेशे घंटाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते। एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः। तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता। वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति। ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः, प्रतिक्षणं घण्टारवश्च श्रूयते। अनन्तरं घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान्खादति घण्टाश्च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः। ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टावादः। तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विज्ञाय राजा विज्ञापितः-' देव, यदि

कियद्धनोपक्षयः क्रियते, तदाहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि।' ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम्। कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि। ततो घण्टां परित्यज्य वानराः फलासक्ता बुभूवुः। कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजनपूज्याभवत्। अतोऽहं ब्रवीमि-'शब्दमात्रान्न भेतव्यम्' इत्यादि।

श्रीपर्वतमें ब्रह्मपुर नाम नगर है, उसकी चोटीपर घंटाकर्ण नाम राक्षस बसता है, ऐसा मनुष्योंका कथन सुना जाता है. एक समय घंटा लेकर भागा हुआ चोर व्याघ्रसे मारा गया, उसके हाथसे छूटा घट वानरोंको मिल गया। वानर उस घंटेको प्रतिक्षण बजाते थे तो नगरके जनोंने वह मनुष्य खाया हुआ देखा और प्रतिक्षण घंटेका शब्द सुना इस पीछे घंटाकर्ण कोप कर मनुष्योंको खाता है और घंटा बजाता है. यह कह सब मनुष्य नगरसे भाग गये तौ कराला नाम कुट्टनीने यह विचार कर कि, बेसमय घंटेका शब्द होता है. सो क्या वानर घंटा बजाते हैं? यह आप जान राजासे कहा कि, देव! कुछ धन व्यय करो, तो मैं इस घंटाकर्णका संहार कर सक्ती हूं. तो राजाने उसे धन दिया. कुट्टनीने एक मंडल कर वहां गणेशादिकी पूजा गौरवतासे दिखाय आप वानरोंको प्यारे लगनेवाले फलोंको ला और वनमें जाके फल वखेरे. तो वानर घंटा छोड फलासक्त हुए. कुट्टनी घंटा ले नगरमें आ सब मनुष्योंकी पूज्य (पूजने योग्य) हुई. इससे मैं कहता हूं शब्दमात्रसे न डरना चाहिये, इत्यादि।

तत आनीय संजीवकः दर्शनं कारितः, पश्चात्तत्रैव परमप्रीत्या निवसति।

तब संजीवकको बुलाकर दिखाया, फिर वह वहांही परम प्रीतिसे रहने लगा.

अथ कदाचित्तस्य सिंहस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंहः समागतः। तस्यातिथ्यं कृत्वा समुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय पशुं हन्तुं चलितः। अत्रान्तरे संजीवको वदति–'देव, अद्य हतमृगाणां मांसानि क्व।' राजाह–'दमनककरटकौ जानीतः।' संजीवको ब्रूते–'ज्ञायतां किमस्ति नास्ति वा।' सिंहो विमृश्याह–'नास्त्येव तत्।' संजीवको ब्रूते–'कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम्।' राजाह–'खादितं व्ययितमवधीरितं च। प्रत्यहमेष क्रमः।' संजीवको ब्रूते–'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रियते।' राजाह–'मदीयागोचरेणैव क्रियते।' अथ संजीवको ब्रूते–'नैतदुचितम्। तथा चोक्तम्–

इस पीछे कभी सिंहका भाई स्तब्धकर्ण नाम सिंह आया उसका सत्कार कर अच्छी प्रकार ठहराय पिंगलक उसके भोजनके लिये पशु मारनेको चला. इस बीच संजीवक बोला–देव! आजके मारे हुए मृगोंका मांस कहां है? राजा बोला–दमनक; करटक जाने. संजीवक बोला–जानना चाहिये कि, है या नहीं? सिंह सोचकर बोला–नहीं है. संजीवक बोला–कैसे इतना मांस दोनोंने खा लिया. राजा बोला–खाया, व्यय किया, लुटाया; प्रतिदिन यही क्रम है. संजीवक बोला–क्या आपके विना जाने ऐसा किया जाता है? राजा बोला–मेरें विनाही जाने किया जाता है. तौ संजीवक बोला–यह उचित नहीं. जैसा कहा है–

नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किंचिदपि स्वयम्।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपते ॥ ९२ ॥

हे राजा ! आपत्तिके दूर करनेके उपायको छोड स्वामीसे विना निवेदन किये अपने आप अन्य कुछ काम न करे ॥ ९२ ॥

अन्यच्च।

कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः।
नृपते किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ९३ ॥

औरभी–कमंडलुकी समान मंत्री थोडा खर्च करे और बहुत संचय करे. हे राजा क्षणभर समय क्या है ? ऐसे जो समझता है, सो मूर्ख है. और एक कौडी क्या है ? ऐसा जो समझता है सो दरिद्री है ॥ ९३ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान्काकिनीं यः प्रवर्धयेत्।
कोशाः कोशवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः९४

वही मंत्री सदा अच्छा है. जो धनको कौडी २ करके बढावे, क्योंकि खजानेवाले राजाका खजाना प्राण है. प्राण प्राण नहीं ॥९४॥

किं चान्यैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः।
धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥९५॥

और कुलके आचारोंसे पुरुष आदर नहीं पाता है. धनहीन अपनी स्त्रीसेभी छोडा जाता है, क्या फिर दूसरोंसे नहीं छोडा जायगा ? ॥ ९५ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्, पश्य–

और राजाओंके लिये ये बडे दोष हैं देखो–

अतिव्ययोऽनवेक्षा च तथार्जनमधर्मतः।
मोक्षणं दूरसंस्थानां कोशव्यसनमुच्यते ॥ ९६ ॥

वहुत व्यय (धनादिको) न देखना या अधर्मसे संचय करना, दूरस्थित हुओंका पालना यह कोश (खजाने) के व्यसन अर्थात् दोष हैं ॥ ९६ ॥

यतः।

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ९७ ॥'

कारण कि–कुबेरकी तुल्य धनीभी शीघ्र प्राप्तिको न सोचकर, अपनी इच्छासे व्यय करता रहे तौ क्षीण (निर्धन) हो जाता है ॥ ९७ ॥

तच्छ्रुत्वा स्तब्धकर्णो ब्रूते–'शृणु भ्रातः, चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ संधिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ। अपरं च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते।

यह सुन स्तब्धकर्ण बोला–भाई ! सुन, वहुत समयसे आश्रित संधि (मेल) और विग्रह (वैर) के कामोंके अधिकारी दमनककरटकोंको कभी धनके अधिकारमें न लगाना चाहिये, जो कुछ नियोगके प्रसंगमें मैंने सुना है, सो कहता हूं.

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥९८॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और बांधव ये अधिकारके योग्य नहीं होते, ब्राह्मण सिद्ध धनकोभी क्लेश पडनेपर नहीं देता ॥ ९८ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम्।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९९ ॥

क्षत्रिय द्रव्यमें लगाया हुआ निश्चय करके खड्ग (तलवार)

दिखाता है, भाई जातिके भावसे आक्रमण करके सर्वस्व ले लेता है ॥ ९९ ॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ १०० ॥

अधिकारमें लगा हुआ चिरकालका सेवक स्वामीका अपमान करकेभी निडर हो यथेच्छ आचरण करता है ॥ १०० ॥

उपकर्ताधिकारस्थः स्वापराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वमेवावलुम्पति ॥ १०१ ॥

उपकार करनेवालेको यदि अधिकारपर नियुक्त कर दिया जाय तौ वह अपने अपराधको नहीं समझता, उपकारकी ध्वजा बनाकर सबहीको लूट लेता है ॥ १०१ ॥

उपांशु क्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद्ध्रुवम् ॥ १०२ ॥

साथ खेला हुआ मंत्री जब कि आपही राजाकी सदृश चलता है तो निश्चयही अधिक मेल होनेसे वह राजाका सदा निरादर करता है ॥ १०२ ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।
शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ॥ १०३ ॥

जो मनसे दुष्ट है, प्रगटमें क्षमायुक्त है, सो निश्चयकरके सारे अनर्थोंका करनेवाला है. हे राजा! इसमें शकुनि (दुर्योधनका मामा)

---

१ शकुनि दुर्योधनका मामा और मंत्री था, इसीकी परामर्शसे दुर्योधनका सत्यानाश हो गया । शकटार नन्द राजाका मन्त्री था जब क्रोधित होकर चाणक्यने नंदराजाके वंशका विनाश करनेका संकल्प किया तौ शकटार उसीके साथ मिल गया और अपने स्वामीका नाश कर डाला ।

और शकटार (राजा नन्दके मंत्री) का ये दो दृष्टांत हैं ॥१०३॥

सदामात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेश ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०४ ॥

मंत्री सदा साध्य नहीं होता, क्योंकि सभी धनी होते हैं, और सिद्धोंने कहा है–कि, ऋद्धि मन (चित्त) में विकार करनेवाली होती है ॥ १०४ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।
उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमात्यस्य दूषणम्॥१०५॥

पाये हुए धनका लेना, द्रव्यका परिवर्त्तन, अनुरोध, उपेक्षा, बुद्धिहीनता और भोग ये मंत्रीके दोष हैं ॥ १०५ ॥

नियोगार्थग्रहोपायो राज्ञां नित्यपरीक्षणम् ।
प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०६ ॥

नियोगसे धन ग्रहण करनेका उपाय, राजपुरुषोंका नित्य देखना, प्रतिपत्ति (गौरवता) का दान और कर्मका विपर्यय चाहिये ॥१०६॥

निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपते ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥१०७॥

हे राजा ! अधिकारी लोग प्रायः बुरे फोडेके समान होते हैं, कि, निचोडनेपर भीतरका सार उगल देते हैं ॥ १०७ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्द्रुतं पयः ॥१०८॥

हे राजा ! अधिकारियोंको वारंवार परखना उचित है. क्या एक वार पीडा दिया (निचोडा) हुआ स्नानका वस्त्र शीघ्र जलको छोड देता है ? ॥ १०८ ॥

---

१ बहु मूल्य द्रव्य लेके अल्प मूल्यकी वस्तुको परिवर्त्तनमें रख देना द्रव्यका परिवर्त्तन कहलाता है.

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम्।' सिंहो ब्रूते-'अस्ति तावदेवम्। किंत्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ।' स्तब्धकर्णो ब्रूते-'एतत्सर्वमनुचितं सर्वथा। यतः-

यह सब जानकर समयानुसार व्यवहार करना योग्य है, सिंह बोला-है तो ऐसेही, परंतु यह दोनों मेरा वचन सर्वथा नहीं करते. स्तब्धकर्ण बोला-यह निपट अयोग्य है. क्योंकि-

आज्ञाभङ्गकरान्राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि।
विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्यच ॥ १०९॥

राजाको चाहिये कि आज्ञा भंग करनेवाले पुत्रोंकोभी क्षमा न करे. नहीं तौ उस राजामें और चित्र (राजाकी मूर्त्ति) में क्या विशेषता है ? ॥ १०९ ॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ ११० ॥

आलसीका यश, अविश्वासकी मित्रता, इन्द्रियहीनका कुल, धनहीनको परमश्रेष्ठ जाननेवालेका धर्म, व्यसनीकी विद्या, कृपणका सुख और जिसका मंत्री मतवाला हो उस राजाका राज्य नाश होता है ॥ ११० ॥

अपरं च।

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि ॥ १११ ॥

१ अयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥' इ. पा. का. नी.

औरभी-चोरोंसे, राजसेवकोंसे, शत्रुओंसे, राजाके मित्रोंसे और अपनेही लोभसे राजा प्रजाकी पिताके समान रक्षा करे ॥ १११ ॥

भ्रातः सर्वथास्मद्वचनं क्रियताम् । व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव । अयं संजीवकः सस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुज्यताम् ।' एतद्वचनात्तथानुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलकसंजीवकयोः सर्वबन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्तते । ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनककरटकावन्योन्यं चिन्तयतः । तदाह दमनकः करटकम्-' मित्र, किं कर्तव्यम् । आत्मकृतोऽयं दोषः । स्वयंकृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम् । तथा चोक्तम्-

हे भाई ! सब प्रकार मेरा कहा कीजिये; यह व्यवहार हमनेभी किया है. इस अन्न खानेवाले संजीवकको धनके अधिकारमें लगाइये. इसके वचनसे वैसा करनेपर तबसे लेकर पिंगलक-संजीवक दोनोंका समय सब बंधुओंको छोडकर बडे स्नेहसे बीतता था, तो सेवककोंके भोजन देनेमें शिथिलता देखनेसे करटक, दमनक आपसमें सोचने लगे. तो दमनक करटकसे बोला-हे मित्र ! क्या करना चाहिये ? यह अपना किया हुआ दोष है. अपने किये दोषमें रोनाभी अयोग्य है. जैसा कहा है-

स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा बद्ध्वात्मानं च दूतिका ।
आदित्सुश्च मणिं साधुः स्वदोषाद्दुःखिता इमे ११२॥'

मैं स्वर्णरेखाको छूकर, दूती अपने शरीरको बांधकर और साधु मणि लेनेकी इच्छा करके ये तीनों अपनेही दोषसे दुःखी हुए ॥ ११२॥

करटको ब्रूते-'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति-

करटक बोला-यह कैसे ? दमनक बोला-

कथा ॥ ६ ॥

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा । तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कन्दर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयकेन नायं हन्तव्य इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः । राजपुरुषा ऊचुः—'किमिति नायं वध्यः ।' स आह—'श्रूयताम् ।' 'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि पठति । त आहुः—'कथमेतत् ।' परिव्राजकः कथयति—'अहं सिंहलद्वीपे भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कन्दर्पकेतुर्नाम । एकदा केलिकाननावस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालंकारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद्दृश्यत इति । ततोऽहं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः । अनन्तरं तत्र गत्वा पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव सावलोकिता । ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन मयापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः । तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मयालोकिता । तयाप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं संभाषितः । तत्सख्या च मया पृष्टया समाख्यातम्—' एषा कन्दर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रतिज्ञापिता विद्यते । यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषागत्य प-

श्यति स एव पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यतीति मनसः संकल्पः। तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान्।' अथ तत्र वृत्ते गान्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राहं तिष्ठामि तत एकदा रहसि तयोक्तम्—'स्वामिन्, स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्। एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित्स्प्रष्टव्या।' पश्चादुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा। तया चित्रगतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः। अथ दुःखार्तोऽहं परिव्रजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्। प्रदोषसमये सुहृदां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत्। ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः। ततोऽर्धरात्र एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेतावदत्—'तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते। तथा चोक्तम्—

कांचनपुरनाम नगरमें वीरविक्रम राजा है, उसके धर्माधिकारी किसी नाईको मारनेकी जगह लिये जाते थे, कंदर्पकेतुनाम संन्यासीने जिसका साथी एक व्यापारी था, यह मारने योग्य नहीं है, यह कहकर अपने वस्त्रके दामनमें उसे छिपा लिया (अथवा उसका अंचल पकड लिया)। राजपुरुष बोले—यह मारने योग्य क्यों नहीं ? उसने कहा—सुनिये. और 'स्वर्णरेखाको मैं छूकर' इस श्लोकको पढा। राजपुरुषोंने पूछा यह कैसे है ? संन्यासी कहने लगा, मैं सिंहलद्वीपके राजा जीमूतकेतुका पुत्र कंदर्पकेतु नामवाला हूं।

एक समय मैं केलिकाननमें विहार करता था, मैंने नावके व्यापारीके मुँहसे सुना कि, यहां समुद्रके बीचमें चतुर्दशीको एक कल्पतरु प्रगट होता है. उस वृक्षके नीचे रत्नोंकी पंक्तिकी किरणोंसे विचित्र पलंगपर स्थित, सारे भूषणोंसे सजी हुई, लक्ष्मीके समान, बीन बजाती कन्या दिखलाई देती है । तो मैं नाविकवैश्यको ले जहाजपर चढ वहां गया, इसके पीछे वहां जा पलँगपर अर्धमग्न (लेटी हुई) वैसाही उसे देखा, तो उसके सुन्दरता आदि गुणोंसे खिंचकर मैंभी उसके पीछे झपटा. उसके पीछे कनकपुरमें पहुँच मैंने उसे सुवर्णके महलमें स्थित विद्याधरियों (देवजाति) से सेव्यमान देखा. उसनेभी मुझे दूरसे देख, सखीको भेज, आदरपूर्वक कहलाया. मुझसे पूछी हुई उस सखीने कहा—इस कंदर्पकेलिनाम विद्याधरचक्रवर्तीकी पुत्री रत्नमंजरीनामवाली प्रतिज्ञा किये विराजती है कि जो व्यक्ति सोनेके इस नगरको अपने नेत्रोंसे आकर देखेगा वही पिताके पीछेभी मुझे वरेगा. यह मनका संकल्प है । इस लिये इसे गांधर्वविवाहकरके वर लिया. इसके पीछे ऐसा करनेसे गांधर्वविवाहकरके उसके साथ मैं वहां रमण करता रहा. तो एक समय एकांतमें उसने कहा—स्वामी ! अपनी इच्छापूर्वक यह सब भोगिये. परंतु इस चित्रमें लिखी स्वर्णरेखा नाम विद्याधरीको कभी न छूना, फिर मैंने खेलकी इच्छा करके अपने हाथसे स्वर्णरेखाको छुआ उस चित्रमें व्याप्त (स्वर्णरेखा) के चरणकमलसे ताडा हुआ मैं अपने राज्यमें आ पडा इसके पीछे मैं दुःखसे पीडित संन्यासी हो पृथ्वीपर घूमता २ इस नगरीमें आया हूं यहां कल गोपके घर सोते हुए मैंने देखा कि, सन्ध्याके समय मित्रोंका सत्कार कर अपने घर आये हुए गोपने अपनी स्त्रीको दूतीसे कुछ सलाह करते देखा, तो उस गोपीको ताडन कर स्तंभसे बांधके आप सो रहा तो आधी रातमें उस नाईकी स्त्री दूतीने फिर उस गोपीके पास जाके कहा—(तेरा जार) तेरे वियोगकी अग्निसे भस्म हो कामदेवके बाणोंसे पीडित मृतकके समान हो रहा है. जैसा कहा है—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः॥११३॥

जब रात्रीमें चन्द्रमा अन्धकारका नाश करता है उस समय कामदेव ताक २ के युवा पुरुषोंके चित्तको व्यथित करने लगता है॥११३॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमागता। तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि। त्वं तत्र गत्वा तं संतोष्य सत्वरमागमिष्यासि।' तथानुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्। इदानीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि। ततो यदासौ न किंचिदपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः 'दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्तिकामादायास्या नासिका छिन्ना। तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः। अथागत्य गोपी दूतीमपृच्छत्–'का वार्ता।' दूत्योक्तम्–'पश्य माम्। मुखमेव वार्तां कथयति।' अनन्तरं सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता। इयं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता। ततः प्रातरेवानेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं प्रादात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्। अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकानेन च्छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती।

उसकी ऐसी दशा देख, मनमें क्लेशित हो, मैं बुलानेको तेरे पास आई हूं. सो मैं यहां अपना देह बांधकर रहती हूं. तू वहां जा, उसे प्रसन्न कर शीघ्र आना, ऐसाही करनेपर वह गोप जागकर बोला–अब तुझ पापिनीको जारपुरुषके पास पहुँचाता हूं, तो जब वह कुछ न बोली; तौ गोप क्रोधमें भर गया और " अभिमानसे तू मेरे कहेका उत्तरभी नहीं देती " यों कह उस क्रोधमें भरे हुएने छुरीसे इसकी नाक काट ली ऐसा करके फिर गोप सो गया. और उसे नींद आ गई. इसके पीछे गोपीने आय दूतीसे पूंछा; क्या समाचार है ? दूती बोली–मुझे देख, मुखही बात कहे देता है। इसके पीछे वह गोपी अपने शरीरको बांध वैसेंही स्थित हो गई. यह दूती उस कटी नाकको ले अपने घर गई. तो प्रातःकाल जब उस नाईने अपनी स्त्रीसे क्षुरभांड (किस्वत) मांगी, तो उसने केवल एक क्षुराही दे दिया, तो पूरी किस्वत न मिलनेसे क्रोधमें भर इस नाईने उस छुरेको दूरहीसे घरमें फेंका, तब तो आर्त्त-शब्द कर " विना अपराध इसने मेरी नासिका काटी" यह कह उसे धर्माधिकारी (हाकिम) के पास पकडके ले गई.

सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच–' अरे पापाधम ! को मां महासतीं विरूपयितुं समर्थः । मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति । यतः–

उस गोपीसे गोपने फिर पूछा तौ वह बोली–अरे पापियोंमें नीच ! मुझ महासतीके रूपको कौन बिगाड सक्ता है ? मेरे पापरहित व्यवहारको आठों लोकपाल जानते हैं । क्योंकि–

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ११४ ॥

सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात, दोनों संध्या और धर्म ये सब मनुष्यके आचरणको जानते हैं ॥ ११४ ॥

यद्यहं परमसती स्याम् त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान्तरं स्वप्नेऽपि नहि भजे तेन धर्मेण छिन्नापि मम नासिकाच्छिन्नास्तु । मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे । किंतु स्वामी त्वम्, लोकभयादुपेक्षे त्वाम् । पश्य मन्मुखम् । ततो यावदसौ गोपो दीपं प्रज्वाल्य तन्मुखमवलोकते तावदुन्नसं मुखमवलोक्य तच्चरणयोः पतितः–'धन्योऽहं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इत्युवाच । योऽयमास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि कथयामि । अयं स्वगृहान्निर्गतो द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः । अत्र वेश्यागृहे सुप्तः । तस्याः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते । तत्र लुब्धेनानेन साधुना रात्रावुत्थाय रत्नं ग्रहीतुं यत्नः कृतः । तदा तेन वेतालेन सूत्रसंचारितबाहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार । पश्चादुत्थाय कुट्टन्योक्तम्–' पुत्र, मलयोपकण्ठादागतोऽसि । तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छास्मै । नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि ।' इत्थमेवायं चेटकः । ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि यथायमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य मिलितः । एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्यायेे धर्माधिकारी प्रव-

र्तितः । अनन्तरं तेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारिते । नापितश्च गृहं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि-' स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा । ' इत्यादि । अथ स्वयंकृतोऽयं दोषः । अत्र विलपनं नोचितम् (क्षणं विमृश्य ।) मित्र, यथानयोः सौहार्दं मया कारितं तथा मित्र, भेदोऽपि मया कार्यः । यतः-

जो मैं परम सती हूं, तुझे छोड दूसरेको नहीं जानती हूं, दूसरे पुरुषको स्वप्नमेंभी नहीं भजती हूं. तो इस धर्मसे मेरी कटी हुई नासिकाभी वेकटी हो जाय, मैं तुझे भस्म कर सकती हूं, परन्तु तू स्वामी है, लोकभयसे तुझे क्षमा करती हूं; देख मेरे मुँहको. जब उस गोपने दीपक जलाय उसका मुँह देखा तो ऊंची नासिकावाला मुँह देख उसके चरणोंमें गिरा और बोला-धन्य हूं मैं, जिसकी ऐसी बडी श्रेष्ठ स्त्री है. यह जो व्यापारी यहां है उसकाभी वृत्तान्त कहता हूं-यह अपने घरसे निकल बारह वर्षमें मलयागिरिके पाससे इस नगरीमें आया. वहां वेश्याके घर सोया. उस कुटनीके घरके दरवाजेमें स्थापन किये हुए काष्ठके बने भूतके माथेपर एक अत्युत्तम रत्न था, तो उस लोभी व्यापारीने रातमें उठ रत्न लेनेका यत्न किया, तो उस भूतने जो सूत उसकी बाहोंमें लगा था उसे दबाया. तब वह दुःखसे चिल्लाया कि, सूत (कल) सें चलती हुई भुजाओंसे पीडा किये हुए इसने आर्त्तशब्द किया. फिर उठकर कुटनीने कहा-हे पुत्र ! तू मलयागिरिके पाससे आया है; सो सारे रत्न इसे दे; नहीं तो यह न छोडेगा. इस प्रकारही यह दास है.

१ ' प्रवर्तितः ' इत्यस्याग्रे 'अनन्तरं तेन नापितवधूर्मुण्डिता गोपी च शासिता, कुट्टिनी दण्डिता, साधोर्धनानि च प्रदत्तानि ' इति पाठान्तरमुपलभ्यते केषुचित् पुस्तकेषु । किन्हीं २ पुस्तकोंमें यह पाठान्तर है उसका अर्थ यह है-विचारमें नायनका शिर मूडा गया, गोपीको बहुत कुछ शासन दिया गया, कुट्टिनीको दण्ड मिला और साधुके सब धन उसे मिल गये ।

तो इसने सब रत्न दे दिये. ऐसे यह सर्वस्व खोय हमसे आ मिला. यह सब सुन राजपुरुषोंने धर्माधिकारीको न्यायमें प्रवृत्त किया, फिर उसने उस दूती और गोपीको गांवके बाहर निकाल दिया, नांईभी घरको गया. इससे मैं कहता हूं कि-मैं स्वर्णरेखाको छूकर इत्यादि. इस दृष्टांतके अनुसार यह दोष अपना किया हुआ है. इसमें रोना अयोग्य है. (क्षणमात्र सोचकर) मित्र! जैसे इन दोनोंकी मित्रता मैंने कराई, ऐसेही मैं भेद (जुदाई) भी कराऊंगा, क्योंकि-

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥ ११५॥

बडे चतुर पुरुष असत्यकोभी सत्य कर दिखाते हैं, जैसे चित्रकर्मके जाननेवाले मनुष्य समान स्थानपरभी नीचा ऊंचा दिखा देते हैं॥ ११५॥

अपरं च।

उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते।
स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा॥११६॥'

औरभी-उपस्थित कार्योंमें जिसकी बुद्धि हीन नहीं होती, वह कठिनताओंसेभी इस प्रकार पार पा जाता है, जैसे गोपीने दो जारका निस्तार किया॥ ११६॥

करटकः पृच्छति- 'कथमेतत्।' दमनकः कथयति-
करटकने पूंछा-यह कैसे? दमनक बोला-

कथा॥ ६॥

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी। सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते। तथा चोक्तम्-

द्वारावती नगरीमें किसी गोपकी स्त्री व्यभिचारिणी थी, वह गांवके दण्डनायक और उसके पुत्र दोनोंके साथ रमण करती थी; जैसे कहा है—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ११७॥

अग्नि काष्ठसे, समुद्र नदियोंसे, मृत्यु सब शरीर धारण करनेवालोंसे, एवम् स्त्रियां पुरुषोंसे तृप्त नहीं होतीं ॥ ११७ ॥

अन्यच्च।

न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः ॥११८॥

और भी—स्त्रियें दानसे, मानसे, सीधेपनसे, सेवासे, शस्त्रसे या शास्त्रसे वशमें नहीं हो सक्तीं क्यों कि, स्त्रियें सब प्रकार विषम हैं ॥ ११८ ॥

यतः।

गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं
पतिं रतिज्ञं सधनं युवानम्।
विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥ ११९ ॥

कारण कि—स्त्रियां गुणी, कीर्तिमान्, सुंदर रतिके ज्ञाता, धनी और युवा पतिको छोडकर शीघ्र शीलगुणादिरहित दूसरे मनुष्यके पास चली जाती हैं ॥ ११९ ॥

अपरं च।

न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी
विचित्रशय्यां शयितापि कामम्।

१ कोतवाल आदि कोई प्रधान पुरुष।

यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ
प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ १२० ॥

औरभी-स्त्री (अपने पतिके साथ) सुन्दर सेजपर शयन करने-सेभी ऐसी प्रसन्न नहीं होती; जैसी दूब आदि बिखरी पृथ्वीके ऊपर पराये पतिके संग यथेष्ट सुखको पाती है ॥ १२० ॥

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति। अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः। तमायान्तं दृष्ट्वा तत्पुत्रं कुशूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति। अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात्समागतः। तमालोक्य गोप्योक्तम्-'दण्डनायक, त्वं लगुडं गृहीत्वा कोपं दर्शयन्सत्वरं गच्छ।' तथा तेनानुष्ठिते गोपेन गृहमागत्य भार्या पृष्टा। 'केन कार्येण दण्डनायकः समागत्यात्र स्थितः।' सा ब्रूते-'अयं केनापि कारणेन पुत्रस्योपरि क्रुद्धः। स च पलायमानोऽप्यत्रागत्य प्रविष्टो मया कुशूले निक्षिप्य रक्षितः। तत्पित्रा चान्विष्यात्र न दृष्टः। अत एवायं दण्डनायकः क्रुद्ध एव गच्छति।' ततः सा तत्पुत्रं कुशूलाद्बहिष्कृत्य दर्शितवती। तथा चोक्तम्-

इसके अनन्तर किसी समय वह दण्डनायकके पुत्रसे विहार कर रही थी, कि-इतनेहीमें दण्डनायकभी रमण करनेको आ गया। उसे आता देख उसके पुत्रको कुठलेमें बंद कर आप वैसेही दण्डनायकके साथ विहार करने लगी। इसी समय उसका पति गोपभी गोशालासे आ गया, उसे देख गोपी बोली-दण्डनायक! तुम लकडी ले कोप दिखाते हुए शीघ्र चले जाओ, ऐसा उसके करनेपर

गोपने घर आय स्त्रीसे पूछा. यह दण्डनायक यहां क्यों आया था? वह बोली—इसने किसी कारणसे अपने पुत्रपर क्रोध किया और वह भागकर यहां आ घुसा, मैंने उसे कुठलेमें रखके बचा लिया, उसके पिताने ढूंढा पर यहां न पाया इससे यह दण्डनायक क्रोधमें भरा जाता है. तब उसने उसके पुत्रको कुठलेसे बाहर निकाल दिखा दिया। जैसा कहा है—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥१२१॥

स्त्रियोंका भोजन दुगुना है, उनकी बुद्धि चौगुनी है, उद्योग छह गुणा है और काम आठगुणा वर्णन किया गया है॥ १२१॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु।' इत्यादि॥

इससे मैं कहता हूं कि—उपस्थित कार्यमें जिसकी बुद्धि हीन नहीं होती, वह दुर्गम वस्तुसे पार पा जाता है, इत्यादि.

करटको ब्रूते—'अस्त्वेवम्। किंत्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः।' दमनको ब्रूते—'उपायः क्रियताम्। तथा चोक्तम्—

करटक बोला यह ठीक है, परंतु परस्पर स्वभावसे उत्पन्न इनके बडे स्नेहमें भेद कैसे डाला जाय? दमनक बोला—उपाय करना चाहिये। और कहाभी है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः॥१२२॥'

जो उपायसे हो सकता है, वह पराक्रमसे नहीं हो सकता. काकी (कौवेकी स्त्री) ने सोनेके तारके आधारसे काले सांपको मार डाला था॥ १२२॥

---

१ 'स्त्रीणां द्विगुण आहारो लज्जा चापि चतुर्गुणा। साहसं षड्गुणं चैव' इ. पा. वृ. चा.

करटकः पृच्छति-'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति-

करटकने पूछा-यह कैसे ? दमनक बोला-

कथा ॥ ७ ॥

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदंपती निवसतः । तयोश्चापत्यानि तत्कोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि । ततः पुनर्गर्भवती वायसी वायसमाह-'नाथ, त्यजतामयं तरुः । यतश्चात्रावस्थितकृष्णसर्पेणावयोः संततिः सततं भक्ष्यते अतश्चावयोः सन्ततिः कदाचिदपि न भविष्यति । यतः-

किसी वृक्षमें कौएका जोडा वसता था. उनकी संतान वृक्षके कोटर (खोखले) में स्थित काला सर्प खा जाता था. तो फिर गर्भवती कौवेकी स्त्री कौवेसे बोली-हे नाथ ! इस वृक्षको छोड दीजिये. क्योंकि यहां रहनेवाला काला सर्प निरंतर हमारी संतानको खा लेता है. अत एव हमारी सन्तान कभी नहीं बच सक्ती । कारण कि-

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्याश्चोत्तरदायकाः ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥ १२३ ॥'

दुष्ट स्त्री, मूर्ख मित्र, उत्तर देनेवाले सेवक, सर्पवाले घरमें निवास करना ये सब मृत्युही हैं इसमें संशय नहीं ॥ १२३ ॥

वायसो ब्रूते- 'प्रिये, न भेतव्यम् । वारंवारं मयैतस्य महापराधः सोढः इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः ।' वायस्याह- 'कथमेतेन बलवता सार्धं भवान्विग्रहीतुं समर्थः ?' वायसो ब्रूते- 'अलमनया शङ्कया । यतः-

कौवा बोला-कि हे प्रिया ! मत डर, बार बार मैंने इसका बडा

अपराध सहा अब फिर न सहूंगा. कौवेकी स्त्री बोली–कैसे इस बलवान्के साथ आप लडनेको समर्थ हैं ? कौवा बोला–यह शंका मत कर. क्योंकि–

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥१२४॥'

जिसे बुद्धि है, उसीको बल है निर्बुद्धिको बल कहां ? देख ! मदमें उन्मत्त सिंहको खरगोशने मारा ॥ १२४ ॥

वायसी विहस्याह–' कथमेतत्। ' वायसः कथयति–

काकी हँसकर बोली–यह कैसे ? कौवा बोला–

कथा ॥ ८ ॥

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः। स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते। ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः–' मृगेन्द्र, किमर्थमेकदा बहुपशुघातः क्रियते। यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः। ' ततः सिंहेनोक्तम्–' यद्येतदभिमतं भवतां तर्हि भवतु तत्। ' ततः प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते। अथ कदाचिद्वृद्धशशकस्य वारः समायातः। सोऽचिन्तयत्–

मंदराचल नाम पर्वतपर दुर्दांत नाम सिंह है, वह सदा पशुओंका वध करता रहता था तो सब पशुओंने मिल उस सिंहसे कहा–हे मृगेन्द्र ! क्यों, एकही समय सब पशुओंका घात करते हो, यदि प्रसन्न हो तो हमही आपके भोजनके लिये प्रतिदिन एक एक पशु आपके पास भेजें. तौ सिंह बोला–जो आपकी यह इच्छा है, तो ऐसाही हो. तबसे लेकर एक एक पशु जो दिया जाता सो खाता रहता. कभी बूढे खरगोशका ओसरा आया, वह सोचने लगा–

'त्रासहेतोर्विनीतस्तु क्रियते जीविताशया ।
पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयनेन मे ॥१२५॥

जीवित रहनेके लिये भयसे विनय की जाती है, जब कि मरण अवश्यही पाऊंगा तो सिंहकी अनुनय (खुशामद) से मुझे क्या है ? ॥ १२५ ॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि।' ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात्तमुवाच-'कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि ।' शशकोऽब्रवीत्-' देव, नाहमपराधी । आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः ॥ तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्रागतोऽस्मि । ' सिंहः सकोपमाह-'सत्वरं गत्वा दुरात्मानं दर्शय क्व स दुरात्मा तिष्ठति।' ततः शशकस्तं गृहीत्वा गभीरकूपं दर्शयितुं गतः । तत्रागत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन्कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान् । ततोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि-'बुद्धिर्यस्य' इत्यादि ॥

इससे मंद मंद जाता हूं, तब तो सिंहभी भूखसे व्याकुल हो क्रोधमें भर उससे बोला-तू क्यों विलम्ब करके आया है. खगोंश बोला-देव ! मैं अपराधी नहीं हूं, मार्गमें आता २ दूसरे सिंहस बलात्कार (जबरदस्ती) से पकड लिया गया, उसके आगे फिर आनेकी शपथ कर, आपसे निवेदन करनेको यहां आया हूं. सिंह कोपसे बोला-शीघ्र चलकर दुरात्माको दिखा, वह दुष्ट कहां रहता है ? तब खगोंश उसे ले एक गहरे कुएको दिखाने गया, वहां आकर स्वामी आप देखिये; यों कह कुएके जलमें उसही

सिंहका प्रतिबिम्ब (परछांही) दिखाने लगा तो वह क्रोधसे पूर्ण हो अभिमानसे उसके ऊपर अपने आप कूदकर मर गया. इससे मैं कहता हूं कि-जिसे बुद्धि है उसेही बल है इत्यादि.

वायस्याह-'श्रुतं मया सर्वम् । संप्रति यथा कर्तव्यं तद्ब्रूहि ।' वायसोऽवदत्-'अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति । स्नानसमये तदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन्कोटरे धारयिष्यसि ।' अथ कदाचित्स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम् । अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तै राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि-'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि ॥

काकी बोली-मैंने सब सुना, अब जो करना चाहिये सो कहो. कौवा बोला-यहां समीपही प्रतिदिन आकर राजाका पुत्र तालावमें न्हाता है. न्हानेके समय उसके शरीरसे उतारकर तीर्थशिलापै रक्खी हुई सोनेकी कर्धनीको चोंचमें रख इस कोटरमें लाके रख दीजे, सो कभी काकीने राजपुत्रके स्नानके लिये जलमें जानेपर ऐसाही किया. तौ सोनेका तार (कर्धनी) के ढूंढनेको गये हुए राजपुरुषोंने उस वृक्षके कोटरमें काला सर्प देखा और उसे मार डाला. इससे मैं कहता हूं "जो उपायसे हो सक्ता है वह पराक्रमसे नहीं" इत्यादि ।

करटको ब्रूते-'यद्येवं तर्हि गच्छ । शिवास्ते सन्तु पन्थानः ।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच-'देव, आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि । यतः-

करटक बोला-यदि ऐसा है तो जा. तेरा मार्ग सुखकारी हो. तो दमनक पिंगलकके पास जा प्रणाम कर बोला-देव ! मैं किसी महाभयदायी अद्भुत कार्यको जानकर आया हूं. कारण कि-

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः॥ १२६॥

आपत्तिके ऊपर आनेपर, कुमार्गमें चलनेके समय और कामका समय व्यतीत होनेपर विना पूछेभी हितू मनुष्यको चाहिये कि जो सुखदाई बात है उसे कहे॥ १२६॥

अन्यच्च।

भोगस्य भाजनं राजा न राजा कार्यभाजनम्।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते॥ १२७॥

औरभी-राजा भोगका पात्र है, कामका पात्र नहीं. राजाके कामोंका नाश करनेवाला मंत्री दोषसे लिप्त होता है॥ १२७॥

तथा हि पश्य। अमात्यानामेष क्रमः।
और देखिये, मंत्रियोंका यह क्रम है।

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्तनम्।
न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम्॥ १२८॥'

प्राण छोडना और शिरका कटनाभी श्रेष्ठ है. स्वामीके पदकी प्राप्तिरूपी पातकके चाहनेवालोंकी उपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है॥ १२८॥

पिङ्गलकः सादरमाह-'अथ भवान्किं वक्तुमिच्छति।' दमनको ब्रूते-'देव संजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते। तथा चास्मत्संनिधाने श्रीमद्देवपादानां शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा राज्यमेवाभिलषति।' एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं साश्चर्यं मत्वा तूष्णीं स्थितः। दम-

नकः पुनराह—' देव, सर्वामात्यपरित्यागं कृत्वैक एवायं यत्त्वया सर्वाधिकारी कृतः स एव महान् दोषः। यतः—

पिंगलक आदरसे बोला—इस समय आप क्या कहा चाहते हैं? दमनक बोला—देव! संजीवक आपपर बुरा व्यवहार करनेवालेंके समान दीखता है और हमारे समीप आपकी तीनों शक्तियोंकी[1] निंदाकरके राज्यकी इच्छा करता है. यह सुनकर पिंगलक डरके साथ आश्चर्य मान चुप हो गया. दमनक फिर बोला—देव! सब मंत्रियोंको छोड एक इसहीको आपने जो सबका अधिकारी किया है यही बडा दोष है. क्योंकि—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२९ ॥

मंत्री और राजाके अधिक उन्नत होनेपर लक्ष्मी पैर उचकाकर खडी रहती है, वह स्त्रीस्वभावसे इन दोनोंके भारको न सहकर एकको छोड देती है ॥ १२९ ॥

अपरं च।

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते।
निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहयाततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुह्यति १३०

औरभी। जब राजा राज्यमें एक मंत्रीको मुख्य बना देता है, तो

---

१ "प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति" राजाका निजप्रभाव 'प्रभुशक्ति' राजा तथा कर्मचारियोंका अध्यवसाय 'उत्साहशक्ति' और राजा तथा मन्त्रियोंकी गुप्तमंत्रणा 'मंत्रशक्ति' कहाती हैं।

उसे मोहसे अहंकार हो जाता है और वह मदके आलस्यसे बिगड जाता है. उस बिगडे हुएके हृदयमें स्वतंत्र होनेकी इच्छा निवास करती है. फिर स्वतंत्र होनेकी इच्छासे वह राजाके प्राणनाशके निमित्त द्रोह करता है ॥ १३० ॥

अन्यच्च ।

विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥१३१॥

और दूसरे । विषके लगे भोजनका, हाले हुए दांतका और खोटे मंत्रीका जडसे उखाड डालनाही सुख है ॥ १३१ ॥

किं च ।

यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्संचारकैर्विना ॥ १३२ ॥

औरभी । जो राजा लक्ष्मीको मंत्रियोंके आधीन कर देता है, वह राजा विपत्तिके समय सेवकोंके विना अंधके समान दुःखी होता है ॥ १३२ ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्च जानाति ।

सब कामोंमें यह अपनीही इच्छासे आचरण है और इसमें स्वामीही (आप) प्रमाण हैं, यह आप स्वयं जानते हैं कि-

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ॥१३३॥'

संसारमें ऐसा पुरुष कोई नहीं है, जो लक्ष्मीकी इच्छा नहीं करता, संसारमें पराई सुन्दर स्त्रीको कौन आदरपूर्वक नहीं देखता ॥१३३॥

सिंहो विमृश्याह-'भद्र, यद्यप्येवं तथापि संजीवकेन सह मम महान्स्नेहः । पश्य-

सिंह सोचकर बोला-भद्र ! यद्यपि ऐसा है, तौभी संजीवकसे मेरी बडी प्रीति है. देख-

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः।
अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः॥१३४॥

जो प्रिय है, वह अप्रिय कार्य करनेपरभी प्रियही है, शरीर समस्त दोषोंसे दूषित होनेपरभी किसे प्यारा नहीं होता ? ॥ १३४ ॥

अन्यच्च।

अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः॥ १३५॥'

औरभी। जो प्रिय है, वह अप्रियको करता हुआभी प्रियही है. घरके पदार्थ जलानेपरभी अग्निमें किसका अनादर है ? अर्थात् कौन निरादर करता है ? ॥ १३५ ॥

दमनकः पुनरेवाह-'देव, स एवातिदोषः। यतः-
दमनक फिर बोला-देव ! यही तो बडा दोष है. क्यों कि-

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोहयति पार्थिवः।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याश्रीयते जनः॥१३६॥

क्या पुत्र, क्या मंत्री अथवा क्या उदासीन इनमेंसे जिसके ऊपर राजा अधिक दृष्टि लगाता है, वह मनुष्य लक्ष्मीसे सेवन किया जाता है ॥ १३६ ॥

शृणु देव,

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र संपदः॥१३७॥

सुनिये महाराज ! अप्रियभी औषधीका परिणाम सुखदाई है.

१ सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य परिणामः सुखावहः॥ इ. पा. म. भा.

जहां वक्ता (कहनेवाला) और श्रोता (सुननेवाला) है, वहां संपत्ति रमण करती है ॥ १३७ ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्यायमागन्तुकः पुरस्कृतः। एतच्चानुचितं कृतम्। यतः–

आपने पुराने सेवकोंको छोड इस आये हुएको पूजित किया, यहभी अयोग्य किया. कारण कि–

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रति मानयेत्।
नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः॥ १३८॥'

पहले सेवकोंको छोड आये हुएको पालन न करना चाहिये, क्यौं कि–इससे वडा राज्य छुडानेवाला कोई दोष नहीं ॥ १३८ ॥

सिंहो ब्रूते–' किमाश्चर्यम् , मया यदभयवाचं दत्त्वानीतः संवर्धितश्च। तत्कथं मह्यं द्रुह्यति। ' दमनको ब्रूते–' देव,

सिंह बोला–क्या आश्चर्य है ? कि मैंने जिसे अभयवाक्य देकर बुलाया और सम्यक् प्रकार वढाया, सो कैसे मुझसे शत्रुता रखता है. दमनक बोला–देव !

दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः।
स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम्॥ १३९॥

दुष्ट सीधा नहीं होता चाहे उसकी नित्य सेवा करो. जैसे नित्य कुत्तेकी पूंछ मलने और चिकनानेसे नवाकर सीधी नहीं होती ॥ १३९॥

अपरं च।

स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः॥ १४०॥

औरभी। पसीना दिलाई, मालिश की और रस्सीसे लपेटी हुई

कुत्तेकी पूंछ बारह वर्षमेंभी खोलनेपर अपने स्वभावपरही जाती अर्थात् टेढीकी टेढीही रहती है ॥ १४० ॥

अन्यच्च ।

वर्धनं वाथ सन्मानं खलानां प्रीतये कुतः ।
फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥१४१॥

औरभी । प्रीतिके लिये दुष्टोंका बढाना वा सन्मान करना उनकी प्रीतिके लिये कहां हो सक्ता है ? विषके वृक्ष अमृतसे सींचनेपरभी सुन्दर फल नहीं फलते ॥ १४१ ॥

पश्य ।

यः स्वभावो हि यस्यास्ति स तेन दुरतिक्रमः ।
श्वा यदि क्रियते राजा स किं नाश्नात्युपानहम् ॥१४२॥

देखिये, जिसका जो स्वभाव होता है वह उससे बदला नहीं जा सक्ता, यदि कुत्तेको राजा बना दिया जाय तौ क्या वह जूतेको न चचोरेगा ॥ १४२ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि–

अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।
एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥१४३॥

इसीसे मैं कहता हूं कि–उसके विना पूछेभी हितकारी वचन कह दे, जिसके पराजयकी इच्छा न करे, यही सत्पुरुषोंका धर्म है, इसके विपरीत अन्यथा (अधर्म) है ॥ १४३ ॥

तथा चोक्तम्–

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान्यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।
सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः १४४॥

कहाभी है कि–जो पुरुष दुःखोंको निवारण करे वही स्नेही है; वह कर्म है. जो मलरहित है; वह स्त्री है, जो आज्ञाकारिणी है; वह बुद्धिमान् है. जो श्रेष्ठोंसे पूजा जाता है; वह लक्ष्मी है. जो मद न करे; वह सुखी है, जो तृष्णासे छूटा हुआ है; वह मित्र है. जो स्वाभाविक है; वह पुरुष है, जो इन्द्रियोंसे खिन्न नहीं होता॥ १४४॥

यदि संजीवकव्यसनार्दितो विज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते तदा भृत्यस्य न दोषः । तथा च–

जो संजीवकके व्यसनोंसे सताये हुएभी स्वामी समझानेसे निवृत्त नहीं होते तो मुझ सेवकका दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा कहा है कि–

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
यथेष्टं स्वच्छन्दं प्रविचरति मत्तो गज इव ।
ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने
तदा भृत्ये दोषान्क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम्॥ १४५॥'

कामासक्त राजा कार्यको और हितको नहीं गिनता, किन्तु स्वतंत्र हो मतवाले हाथीके समान यथेष्ट विचरता है, फिर जब अपमानित हो बडे गहन शोकमें पडता है तो सेवकोंको दोष लगाता है और अपनी अविनयको नहीं जानता ॥ १४५ ॥

पिङ्गलकः स्वगतम् ।

'न[1] परस्यापराधेन परेषां दण्डमाचरेत्।
आत्मनावगतं कृत्वा बध्नीयात्पूजयेच्च वा ॥ १४६ ॥

पिंगलक मनही मनमें विचार करने लगा–दूसरेके अपराधसे दूसरेको दण्ड न दे, आप जानकर मारे या पूजे ॥ १४६ ॥

१ 'न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत् । आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयेत वा ॥ ' इ. पा. म. भा.

तथा चोक्तम्—

गुणदोषावनिश्चित्य विधिर्न ग्रहनिग्रहे ।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः॥१४७॥'

जैसा कि कहा है—गुण और दोषोंका निश्चय न करके दया और दण्डकी विधि (आज्ञा) ऐसी (अनुचित) है, जैसे घमंडसे अपने नाशके लिये सांपके मुँहमें हाथ दे देना ॥ १४७ ॥

प्रकाशं ब्रूते—'तदा संजीवकः किं प्रत्यादिश्यताम्।' दमनकः ससंभ्रममाह—'देव, मा मैवम् । एतावता मन्त्रभेदो जायते। तथा ह्युक्तम्—

प्रकाश कर बोला—तो क्या संजीवकको जताया जाय ? दमनक शीघ्र बोला—देव ! ऐसा मत करना इससे मंत्रभेद होता है. जैसा कि कहाभी है—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा ।
मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १४८ ॥

यह मंत्ररूपी बीज जैसे हो वैसे छिपाकर रक्षा करने योग्य है, जैसे हो सके वैसे इस (मंत्र) को न तोडे क्योंकि वह टूटा हुआ नहीं जमता ॥ १४८ ॥

किं च ।

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥१४९॥

औरभी । लेने, देने और कर्तव्यकर्मको जो शीघ्र न किया जाय तौ उसके रसको काल पी जाता है ॥ १४९ ॥

---

१ 'लेना देना' इत्यादि कर्तव्य कर्मोंको जितनी शीघ्र किया जाय उतनाही लाभ विशेष होनेकी सम्भावना रहती है, भावार्थ यह है कि यदि समयके ऊपर कार्यको शीघ्र न किया जाय तौ फिर उसमें रस नहीं रहता ।

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन संपादनीयम्। किं च–

अत एव आरंभ किये हुए कार्यको बडे यत्नसे अवश्य संपादन करना चाहिये. नहीं तो–

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया॥ १५०॥

सब अंगोंसे ढका हुआभी अधीर योधाके समान मंत्र वैरियोंसे भेदकी शंकासे नहीं ठहर सकता॥ १५०॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य संधातव्यस्तदतीवानुचितम्। यतः–

दोष देखकरभी जो इसे दोषोंसे निवृत्ति करके मिलावे सो तो बहुतही अनुचित है. कारण कि–

सकृद्दुष्टं तु यो मित्रं पुनः संधातुमिच्छति।
स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा॥ १५१॥'

एकवार दुष्टता किये मित्रके साथ, जो फिर मिलना चाहता है; वह ऐसे मृत्युको प्राप्त होता है, जैसे खिचरी गर्भको पाकर॥ १५१॥

सिंहो ब्रूते–'ज्ञायतां तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः।' दमनक आह–' देव,

सिंह बोला–पहले हमें जानना चाहिये कि, यह हमारा क्या कर सक्ता है? दमनक बोला–देव!

---

१ 'इसका भाव यह है कि–यदि कायर योधाके पास सब आयुध हो और उसने अपने सब अंगोंकी रक्षाभी चाहे कर रक्खी हो परन्तु उसमें साहस नहीं होता अत एव वह संग्राभूमिमें चिरकालपर्यन्त उपस्थित न रहकर शीघ्रही भाग जाता है। २ ' दण्डेनोपनतं शक्तं यो राजा न नियच्छति। स मृत्युमुपगृह्णाति ' इ. पा म. भा.

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः ।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः ॥१८२॥'

अंग और अंगीके भाव (लोकबल या अर्थबल) को न जानकर सामर्थ्यका निर्णय कैसे हो सकता है ? देखो ! केवल एक टटीरेने समुद्रको व्याकुल कर दिया था ॥ १८२ ॥

सिंहः पृच्छति-'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति-

सिंहने पूछा-यह कैसे ? दमनक बोला-

कथा ॥ ९ ॥

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदंपती निवसतः । तत्र चासन्नप्रसवा टिट्टिभी भर्तारमाह-'नाथ, प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसंधीयताम् ।' टिट्टिभोऽवदत्-'भार्ये, नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम् ।' सा ब्रूते-'समुद्रवेलया व्याप्यते स्थानमेतत् ।' टिट्टिभोऽवदत्-'किमहं निर्बलः यन्मम गृहावस्थितानि समुद्रेणापहर्तव्यान्यण्डानि, अहं च निग्रहीतव्यः ।' टिट्टिभी विहस्याह-'स्वामिन्, त्वया समुद्रेण च महदन्तरम् । अथवा-

दक्षिण समुद्रके किनारे एक टटीरेका जोडा रहता था, वहां सन्तान उत्पन्न होनेका समय समीप आनेपर टटीरीने पतिसे कहा-हे नाथ ! प्रसवयोग्य (संतान उत्पन्न करने योग्य) एकान्त स्थान ढूंढिये. टटीरा बोला-हे भार्ये ! क्या यह स्थान प्रवसके योग्य नहीं है ? वह बोली कि-इस स्थानमें समुद्रकी लहर आ जाती है. टटीरा बोला-क्या मैं निर्बल हूं ? जो समुद्र हमारे अण्डोंको घरमें धरे २ ही वहा देगा और हमें सतावेगा. टटीरी हँसकर बोली-स्वामी ! तुममें और समुद्रमें वडा अन्तर है. या कि—

पराभवं परिच्छेत्तुं योग्यायोग्यं च वेत्ति यः।
अस्तीह यस्य विज्ञानं कृच्छ्रेणापि न सीदति १५३

पराजयके छेदनेके लिये जो योग्यायोग्यको जानता है और जिसे इस संसारमें विज्ञान है अवश्यही वह विपत्तिमेंभी नष्ट नहीं होता १५३

अपि च।

अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा॥
प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि॥ १५४ ॥'

औरभी। अयोग्य कार्यका आरंभ, अपने जनोंसे विरोध, बलवान्से लडाई, स्त्रियोंका विश्वास ये चार मृत्युके द्वार हैं॥ १५४ ॥

ततः कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता। एतत्सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं तदण्डान्यपहृतानि। ततष्टिट्टिभी शोकार्ता भर्तारमाह–'नाथ, कष्टमापतितम्। तान्यण्डानि मे नष्टानि।' टिट्टिभोऽवदत्–'प्रिये, मा भैषीः।' इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं कृत्वा पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः। तत्र गत्वा सकलवृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्–'देव, समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः।' ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवान्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः। स समुद्रमण्डदानायादिदेश। ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि। अतोऽहं ब्रवीमि–'अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा' इत्यादि।

सो कठिनतासे स्वामीके कहनेसे वहांही उसने जैसे तैसे संतान

उत्पन्न की, यह सब सुनकर समुद्रने उसका बल देखनेके लिये उसके अंडे हर लिये, तो टटीरी शोकित हो पतिसे बोली-कि, हे नाथ ! बडा कष्ट आ पडा, मेरे सब अंडे नष्ट हुए. टटीरा बोला-हे प्रिये ! मत डर. यह कह, पक्षियोंसे मेल कर पक्षियोंके स्वामी गरुडके पास गया. वहां जा टटीरेने सब वृत्तान्त भगवान् गरुडके आगे कहा- हे देव ! समुद्रने मुझे अपने घर रहते हुएको विना अपराधही सताया है तो उसके वाक्योंको सुन गरुडने सृष्टि, स्थिति, प्रलय करनेवाले भगवान् नारायणसे निवेदन किया, भगवान्ने समुद्रको अंडे देनेकी आज्ञा दी. तो भगवान्की आज्ञा शिर धर समुद्रने वे अंडे टटीरेको सौंप दिये, इससे मैं कहता हूं-शरीर और शरीरवालेके भावको विना जाने सामर्थ्यका निर्णय नहीं होता.

राजाह-'कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति ।' दमनको ब्रूते- 'यदासौ सदर्पः शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितामिवागच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी ।' एवमुक्त्वा संजिवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन्विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । संजीवकेन सादरमुक्तम्- 'भद्र, कुशलं ते ।' दमनको ब्रूते-'अनुजीविनां कुतः कुशलम् । यतः-

राजा बोला-कैसे जाना जावे ? कि. संजीवक द्रोहबुद्धि रखता है. दमनक बोला-जब वह आभिमानसे सींगके अग्रभाग (नोंक) का शस्त्र सन्मुख किये हुए चकितसा हो आवेगा, तो आप जानेंगे । ऐसे कह संजीवकके पास गया. वहां जा धीरे धीरे चलता हुआ विस्मितके समान अपने आपको दिखाने लगा. संजीवकने आदरपूर्वक कहा-भद्र ! तेरी कुशल है ? दमनक बोला-सेवकोंकी कहां कुशल है ? क्योंकि-

संपत्तयः पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥१५५॥

जो राजसेवक हैं, उनकी सम्पत्ति पराये वशमें है, उनका चित्त सदा विकल रहता है, उन्हें अपने जीनेमेंभी विश्वास नहीं होता ॥ १५५ ॥

अन्यच्च ।

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः, स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को वास्ति राज्ञां प्रियः । कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः कोऽर्थी गतो गौरवं, को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५६ ॥'

औरभी । कौन धनको पाकर अभिमानी नहीं होता. किस विषयीकी आपत्तियें दूर हुई हैं ? भूतलपर स्त्रियोंने किसके चित्तको खण्डित नहीं किया ? राजाओंका प्यारा कौन है ? कालकी भुजाओंके बीचमें कौन नहीं पहुँचा ? कौन मांगनेवाला गौरवको प्राप्त हुआ ? दुष्टोंके जालमें गिरा हुआ कौन पुरुष कुशलसे रहा ? ॥ १५६ ॥

संजीवकेनोक्तम्-'सखे, ब्रूहि किमेतत् ।' दमनक आह-'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः । पश्य-

संजीवक बोला-मित्र कह, क्या है ? दमनक बोला-मैं मंदभागी क्या कहूं ? देखो-

मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।
न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि संप्रति ॥१५७॥

जैसे समुद्रमें डूबता हुआ प्राणी सांपके सहारेको पाकर न उस

१ 'नाम राजप्रियः' २ न गोचरत्वमगमत्' । इ. पा. वृ. चा.

(सांप) को छोड सकता है और न पकडही सकता हैं. ऐसेही अब मैं कर्त्तव्यताहीन हो रहा हूं ॥ १५७ ॥

यतः ।

एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।
किं करोमि क्व गच्छामि पतितो दुःखसागरे ॥ १५८ ॥'

क्योंकि–एक ओर राजाका विश्वास और दूसरी ओर मित्रका विनाश होता है क्या करूं ? कहां जाऊं ? दुःखसमुद्रमें पडा हूं॥ १५८॥

इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । संजीवको ब्रूते–'मित्र, तथापि सविस्तरं मनोगतमुच्यताम् ।' दमनकः सुनिभृतमाह–'यद्यपि राजविश्वासो न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः । मया परलोकार्थिनावश्यं तव हितमाख्येयम् । शृणु । अयं स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी रहस्युक्तवान्–संजीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि ।' एतच्छ्रुत्वा संजीवकः परं विषादमगमत् । दमनकः पुनराह–'अलं विषादेन । प्राप्तकालकार्यमनुष्ठीयताम् ।' संजीवकः क्षणं विमृश्याह स्वगतम्–'सुष्ठु खल्विदमुच्यते । यतः–

यह कह, लम्बी श्वास ले बैठ गया, संजीवक बोला–हे मित्र ! तौभी अपने मनकी बात खोलकर कहो तौ सही. दमनक गुप्त भावसे बोला–यद्यपि राजाके विश्वासकी बात किसीसे न कहनी चाहिये. तोभी आप हमारे विश्वाससे यहां आये हैं, इसलिये मुझ परलोक (स्वर्ग) की इच्छा करनेवालेको तुम्हारे हितकी बात अवश्य कहनी चाहिये, सुनो, यह स्वामी (पिंगलक) तुमपर विकारकी बुद्धि करनेवाला एकांतमें कहता था कि, संजीवकको मार

अपने कुटुम्बको तृप्त करूंगा. यह सुन संजीवक बडा दुःखी हुआ. दमनक फिर बोला–विषाद मत करो. समयके अनुसार काम कीजिये. संजीवक क्षणमात्र विचार कर बोला–ठीक निश्चय करके यह कहते हैं, कारण कि–

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा।
कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च १५९

स्त्रियें प्रायः दुष्टोंके पास जाती हैं और राजा बहुधा अपात्रका पोषण करनेवाला होता है, धन लोभीका अनुरागी होता है, मेघ प्रायः पहाड और समुद्रमें वर्षा करता है ॥ १५९ ॥

अन्यच्च।

नीचमाश्रयते लक्ष्मीरकुलीनं सरस्वती।
अपात्रं भजते नारी गिरौ वर्षति वासवः॥ १६० ॥

औरभी। लक्ष्मी नीचके आश्रयमें रहती है, सरस्वती (विद्या) कुलहीनमें रहती है, स्त्रियें कुपात्रसे अनुराग करती हैं, इन्द्रदेव पर्वतोंके ऊपर वर्षा करते हैं॥ १६०॥

स्वगतम्–किम्वा इदं दुर्जनचेष्टितं न वेति, एतद् व्यवहारान्निर्णेतुं न शक्यते। यतश्च–

मनही मनमें विचारने लगा–यह अनर्थ किसी दुर्जनका कराया है वा नहीं इसका व्यवहारसे निश्चय करना अशक्य है। कारण यह है कि–

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ १६१ ॥

कभी आश्रयकी सुन्दरतासे कोई असज्जनभी शोभाको धारण कर लेता है, जैसे स्त्रीके नेत्रोंमें लगा हुआ मैला अंजन सुशोभित होता है॥ १६१ ॥

तत्र विचिन्त्योक्तम्–कष्टं किमिदमापतितम्। यतः–

फिर सोचकर बोला-हाय ! यह क्या कष्ट आ पडा ? क्योंकि-

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्ना-
न्न तोषमायाति किमत्र चित्रम्।
अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो
यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १६२ ॥

प्रयत्नसे सेवा करनेपरभी राजा प्रसन्न न हो. इसमें क्या आश्चर्य है ? कारण कि यह इस अपूर्वप्रतिमाकी विशेषता है जो सेवा करनेसेभी शत्रुताको प्राप्त होता है ॥ १६२ ॥

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः। यतः-

अत एव इस विषयमें कोई चेष्टा करनाभी निरा अशक्य है क्योंकि-

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ॥ १६३ ॥

जो किसी निमित्त (कारण) से कोप करता है, वह उस (निमित्त) के दूर होनेपर अवश्य प्रसन्न हो जाता है और जिसका मन अकारणही द्वेष करनेवाला है उसे मनुष्य कैसे प्रसन्न कर सक्ता है १६३॥

किं मयापकृतं राज्ञः। अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः।' दमनको ब्रूते-'एवमेतत् शृणु।

मैंने राजाका क्या अपकार किया ? या राजा बेकारणही अपकार करनेवाले होते हैं. दमनक बोला, हां ऐसेही है, सुनो-

विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कश्चित्
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति।

चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥१६४॥

कोई पुरुष स्नेहीके उपकार करनेपरभी शत्रुता मानता है और दूसरोंके साक्षात् अपकार करनेपरभी प्रीतिको मानता है, एक भावमें आश्रय न रहनवालोंको चरित अद्भुत है, सेवाधर्म बडा कठिन है, योगियोंकोभी इसका ज्ञान होना कठिन है ॥ १६४ ॥

अन्यच्च ।

कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु ।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् १६५ ॥

औरभी । असज्जनोंके सामने सैकडों उपकार नष्ट हैं, अनेक सुन्दर वचन मूर्खोंमें नष्ट हैं. अनेक वचन आज्ञा न माननेवालेमें नष्ट हैं, अनेक बुद्धि निर्बुद्धिमें नष्ट हैं ॥ १६५ ॥

किं च ।

चन्दनतरुषु भुजङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि ॥१६६॥

वल्कि यों कहना चाहिये कि-चंदनके वृक्षोंमें सर्प, जलोंमें कमल और उसीमें नाके तथा भोगविलासमें गुणघातक दुष्ट हैं सुतराम् विघ्नरहित सुख कहीं नहीं है ॥ १६६ ॥

अन्यच्च ।

मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ॥ १६७ ॥

औरभी । जड सर्पोंसे, फूल भौरोंसे, शाखें वानरोंसे, शिखर

(चोटी) रीछोंसे आश्रित है. चंदनवृक्षका ऐसा कोई अंग नहीं, जो दुष्ट हिंसकोंके द्वारा आश्रय न किया गया हो ॥ १६७ ॥

अयं तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः ।

यतः—

यह स्वामी तो बचनमें मीठा किन्तु विषकी समान हृदयवाला जाना जाता है. क्योंकि—

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो
गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः ।
अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटुः
को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥१६८॥

दूरसे हाथ उठाये, नेत्रोंमें जल भरे, आधा आसन देनेको उद्यत, गाढ आलिंगनमें तत्पर, प्रियकी कथा पूछनेमें आदर करनेवाला, हृदयमें विषरूप किन्तु बाहरसे अमृतके समान, मायामें बडा चतुर, यह क्या अपूर्व नाटकविधि है, जो दुष्टोंने सीखी है॥१६८॥

तथा हि ।

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे
निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः ।
इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः ॥१६९॥'

औरभी देखो । अगाध समुद्रके तरनेमें जहाज, अंधकारके आनेमें दीपक, वायु न चलनेमें पंखा, मदसे अंधे हाथियोंके अभिमान शांत करनेको अंकुश, ऐसा जगत्में कुछ नहीं है, जिसके उपायकी चिन्ता ब्रह्माने नहीं की, पर मैं जानता हूं कि, दुष्टोंके चित्तकी वृत्ति हरनेमें ब्रह्माभी पुरुषार्थहीन है ॥ १६९ ॥

संजीवकः पुनर्निःश्वस्य स्वगतम्-' कष्टं भोः । कथमहं सस्यभक्षकः सिंहेन निपातयितव्यः । यतः-

संजीवक फिर श्वास ले मनहीमन सोचने लगा-कष्ट है, हाय! मुझ घास-पात खानेवालेको सिंह क्यों मारेगा ? कारण कि-

द्वयोरेव समं वित्तं द्वयोरेव समं बलम् ।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् १७०॥

जिन दोनोंका समान धन हो और दोनोंका समानही बल हो, तो उन दोनोंमें विवाद माना जाता है. छोटे वडोंमें कहीं नहीं ॥ १७० ॥

पुनर्विचिन्त्य केनायं राजा ममोपरि विकारितः । न जाने । भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेत्तव्यम् । यतः-

फिर सोच कहने लगा-किसने इस राजाको मुझपर बिगाडा है ? यह मैं नहीं जानता, भेदको प्राप्त हुए राजासे सदा डरना चाहिये. क्योंकि-

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।
वलयं स्फटिकस्येव को हि संधातुमीश्वरः ॥ १७१॥

मंत्रीसे राजाका चित्त बिगाडा हुआ, कांचकी चूडीके समान जोडनेमें कौन समर्थ है ? ॥ १७१ ॥

अन्यच्च ।

वज्रं च राजतेजश्च द्वयमेवातिभीषणम् ।
एकमेकत्र पतति पतत्यन्यत्समन्ततः ॥ १७२ ॥

औरभी । वज्र और राजाका तेज दोनों बडे भयंकर हैं पहला तो एकही जगह गिरता है. किन्तु दूसरा (राजाका कोप) सब जगह गिरता है ॥ १७२ ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेव वरम् । इदानीं तदाज्ञानुवर्तनमयुक्तम् । यतः–

इससे युद्धमें प्राणत्याग करनाही श्रेष्ठ है. अब उसकी आज्ञामें चलना अयोग्य है. क्योंकि–

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ १७३ ॥

मरकर स्वर्ग मिलता है और शत्रुओंको मारकर सुख मिलता हैं, शूरवीरोंके ये दोनों गुण बडे दुर्लभ हैं ॥ १७३ ॥

अन्यच्च ।

आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमाना परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥१७४॥

औरभी । संग्राममें जब राजा लोग परस्पर युद्ध करते समय निज २ शक्तिके अनुसार प्रहार करते हैं तब उनका मरण होनेसे वे सीधे स्वर्गको जाते हैं ॥ १७४ ॥

युद्धकालश्चायम् ।

और युद्धका समय यह माना गया है ।

यत्रायुद्धे ध्रुवं मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः ।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १७५ ॥

जहां युद्ध न करनेसे निश्चय मृत्यु हो और युद्धसे जीनेमें संदेह हो, वह युद्धका समय बुद्धिमानोंने कहा है ॥ १७५ ॥

यतः ।

अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किंचिद्धितमात्मनः ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १७६ ॥

---

१ ‘ हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः । उभयं नो बहुगुणं नास्ति निष्फलता रणे ॥ इ. पा. म. भा.

क्योंकि-युद्ध न करनेमें जब कुछ अपना हित न देखे, तब विद्वान्को चाहिये शत्रुसे युद्ध कर मर जाय ॥ १७६ ॥

जये च लभते लक्ष्मीं मृतेनापि सुराङ्गनाम्।
क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे॥१७७॥'

जीतनेसे लक्ष्मीको पाता है और मरनेसे अप्सराओंकी प्राप्ति होती है, शरीर क्षणमें नाश होनेवाला है, तो युद्धमें मर जानेके लिये क्या चिंता है ? ॥ १७७ ॥

एतच्चिन्तयित्वा संजीवक आह-' भो मित्र, कथमसौ मां जिघांसुर्ज्ञातव्यः। ' दमनको ब्रूते-' यदासौ पिङ्गलकः समुन्नतलांगूल उन्नतचरणो विवृतास्यस्त्वां पश्यति तदा त्वमेव स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि। यतः-

यह सोच संजीवक बोला-कि, हे मित्र ! यह मुझे मारना चाहता है सो कैसे जानूंगा ? दमनक बोला-जब वह पिंगलक पूछ उठाये, पैर ऊंचे करे, मुँह फैलाये तुझे देखे ! तो तुमभी अपना पराक्रम दिखाइयो. कारण कि-

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम्।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम्॥१७८॥

तेजरहित बलवान्भी किसीको पराजयका विषय नहीं है ? देखो मनुष्य भस्मके ढेरमें निडर हो पैर रख देते हैं ॥ १७८ ॥

किंतु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्। नो चेन्न त्वं नाहम्। ' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः। करटकेनोक्तम्-' किं निष्पन्नम्। ' दमनकेनोक्तम्- ' निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः। ' करटको ब्रूते-' कोऽत्र संदेहः। यतः-

परन्तु वह सब छिपाकरही करना चाहिये. नहीं तो, न तू होगा, न मैं. यह कह, दमनक करटकके पास गया. करटक बोला-क्या हुआ ? दमनक बोला-उन दोनोंका भेद कर दिया, करटक बोला-इसमें क्या संदेह है ? क्योंकि-

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न हृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः १७९॥

दुष्टोंका बंधु कौन है ? मांगनेपर कौन क्रोध नहीं करता ? धनसे कौन नहीं घमंडी होता ? बुरे कर्म करनेमें कौन चतुर नहीं ?॥ १७९॥

अन्यच्च ।

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥१८०॥'

औरभी । धूर्त्तलोग लक्ष्मीवान्को अपनी वृद्धिके लिये दुराचारी कर डालते हैं, दुष्टोंका संसर्ग आगके समान क्या अनर्थ नहीं कर देता ? ॥ १८० ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा-'देव, समागतोऽसौ पापाशयः । ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास । संजीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार । ततस्तयोर्युद्धे संजीवकः सिंहेन व्यापादितः ॥

तब पिंगलकके पास जाके कहा-हे देव ! वह पापी आया, सो तैयार हो रहो. यह कह, उससे पहले कहे हुएके समान चेष्टा कराई संजीवकभी आकर वैसेही विकारकी चेष्टा किये हुए सिंहको देख अपने अनुसार पराक्रम करने लगा. तो उन दोनोंके युद्धमें संजीवक सिंहसे मारा गया.

अथ संजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः

सशोक इव तिष्ठति । ब्रूते च- 'किं मया दारुणं कर्म कृतम् । यतः-

इस पीछे पिंगलक अपने सेवक संजीवकको मार थककर शोकासक्त हो बैठा और बोला-कि मैंने क्या दारुण कर्म किया ? क्योंकि-

परैः संभुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम् ।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव ॥१८१॥

राज्य तो दूसरेसे भोगा जाता है. आप पापका भागी होता है, जैसे सिंह हाथीको मारकर पापका भागी होता और वह मांस दूसरोंके काममें आता है. ऐसेही धर्मका उल्लंघन करनेसे राजा पापभागी होता है ॥ १८१ ॥

अपरं च ।

भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः ।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां
नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥ १८२ ॥'

औरभी । पृथ्वीके किसी एक देशका और गुणयुक्त बुद्धिमान् भृत्यका नाश होनेसे गुणी भृत्यका नाश राजाओंका मरण है क्यों कि, नष्ट हुई भूमि मिल सकती है, भृत्य (सेवक) नहीं मिल सकता ॥ १८२ ॥

दमनको ब्रूते-'स्वामिन्, कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा संतापः क्रियते । तथा चोक्तम्-

दमनक बोला-स्वामी यह क्या नया न्याय है ? जो शत्रुको मारकर संताप करते हो. जैसा कहा है-

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता १८३ ॥

पिता हो या भ्राता हो, पुत्र हो या मित्र. जो ये प्राणोंके नाशक हैं, तो ऐश्वर्य चाहनेवाले राजासे मारे जाने योग्य हैं ॥ १८३ ॥

अपि च ।

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।
न हि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान्भक्षितुं क्षमः ॥ १८४ ॥

औरभी–धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके जाननेवालेको अत्यन्त दयालु न होना चाहिये, एक (किसी) पर कृपा करनेवाला हाथमें ठहरे हुए अन्नके खानेकोभी समर्थ नहीं हो सक्ता ॥ १८४ ॥

किं च ।

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १८५ ॥

औरभी–शत्रु या मित्रमें क्षमा करना संन्यासियोंको शोभा देता है, राजाओंको अपराधी जीवोंमें वही क्षमा (दूषण) है ॥ १८५ ॥

अपरं च ।

राज्यलोभादहंकारादिच्छतः स्वामिनः पदम् ।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् १८६ ॥

औरभी–राज्यके लोभ अथवा अहंकारसे स्वामीकी पदवीको चाहनेवालेका प्रायश्चित्त उसके जीवका छूटनाही है और कुछ नहीं १८६

अन्यच्च ।

राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षः
स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः ।

---

१ 'पुत्रो' २ 'पिता' ३ 'अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा' इ. पा. म. मा.

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति ॥ १८७ ॥

औरभी-दयालु राजा, सर्व वस्तुभक्षक ब्राह्मण, स्त्री जो वशमें न हो, खोटे स्वभाववाला सहायक, विरुद्ध सेवक, मतवाला अधिकारी और कृतघ्नी ये सब त्यागनेके योग्य हैं ॥ १८७ ॥

विशेषतश्च ।

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ १८८ ॥[1]

और विशेष करके, सच्ची, झूंठी, कठोर कहनेवाली, तथा प्रियभाषिणी, हिंसा करनेवाली और दयालु, कृपण, उदार, सदा अधिक व्यय करनेवाली, बडे रत्न धनादिकोंको प्राप्त करनेवाली, राजनीति वेश्याके समान अनेक रूपवाली होती है ॥ १८८ ॥

इति दमनकेन संतोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः । दमनकः प्रहृष्टमनाः 'विजयतां महाराजः । शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ।

इस प्रकार दमनकने पिंगलकको संतोषित किया, तब पिंगलक अपने स्वभावको प्राप्त हो सिंहासनपर बैठा. दमनक प्रसन्नमन हो

१ जैसे वेश्या कभी सत्य और कभी झूठ बोलती है, किसीसे कठोर और किसीसे प्रिय भाषण करती है. किसीके प्राणोंका घात और किसीके प्रति दयाका आचरण करती है, कभी कृपण बनती और कभी दानी बन जाती है, कभी अधिक व्यय करती और कभी विविध भांतिके धन और रत्नोंका संचय करती है, ऐसेही राजनीतिकेभी अनेक रंग बदलते रहते हैं ।

और " महाराज विजय पावें, सब जगत्का शुभ हो " यह कहकर सुखपूर्वक रहने लगा.

विष्णुशर्मोवाच–' सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः । ' राजपुत्रा ऊचुः–' भवत्प्रसादाच्छ्रुतः । सुखिनो भूता वयम् । ' विष्णुशर्माब्रवीत्–' अपरमपीदमस्तु–

विष्णुशर्मा बोला–अब आपने सुहृद्भेद सुना, राजपुत्र बोले–आपकी कृपासे सुना और हम सुखी हुए. विष्णुशर्मा बोला और यहभी हो–

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये
खलः कालाकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः ।
जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसंपत्तिवसतिः
कथारम्भे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम् १८९'

इति हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः
कथासंग्रहः समाप्तः ।

अब आपके शत्रुओंके घर सुहृद्भेद हो, दुष्ट लोग कालसे आकर्षण किये हुए दिन प्रतिदिन सत्यानाशको प्राप्त हों, मनुष्य सदा सम्पूर्ण सुख संपत्ति भोगें. बालकभी निरंतर इस रम्य कथाके आरंभमें सुखी हों ॥ १८९ ॥

मुरादाबादवास्तव्यव्रजरत्नभट्टाचार्यकृतभाषानुवादसहित
हितोपदेशका सुहृद्भेद समाप्त ॥ २ ॥

विग्रहः ।

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः–' आर्य, राजपुत्रा वयम् । तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति । ' वि-

ष्णुशर्मणोक्तम्-'यदेवं भवद्भ्यो रोचते कथयामि। विग्रहः श्रूयतां यस्यायमाद्यः श्लोकः-

फिर कथाके आरंभ समय राजपुत्र बोले-हे आर्य! हम राजपुत्र हैं, सो हमारी इच्छा विग्रह सुननेकी है. विष्णुशर्मा बोला कि-जो यही आपकी रुचि है, तो कहता हूं विग्रह सुनिये जिसका यह पहला श्लोक है-

हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाःकाकैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे ॥१॥'

हंसोंके साथ मयूरोंके समान पराक्रमवाले, युद्धमें कौवोंने शत्रुके स्थानमें विश्वास देकर हंसोंको ठगा ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः-'कथमेतत्।' विष्णुशर्मा कथयति-

राजपुत्र बोले-यह कैसे? विष्णुशर्मा बोला-

अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः। तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति। स च सर्वैर्जलचरपक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः। यतः-

कर्पूरद्वीपमें पद्मकेलिनाम सर (तालाव) है, वहां हिरण्यगर्भनाम राजहंस रहता था, वहीं सव जलचर-पक्षियोंने मिल उसे पक्षियोंके राज्यमें राजतिलक दिया. कारण कि-

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ २ ॥

जो राजा अच्छी प्रकार शिक्षा करनेवाला न हो, तो प्रजा बेमल्लाहकी नांवके समान समुद्रमें डूब जाती है ॥ २ ॥

अपरं च।

प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्थिवम्।
वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ ३ ॥

औरभी—राजा प्रजाकी रक्षा करता है तो वह राजाको बढाती है, बढानेसे रक्षा करना भला है, उसके अभावसे अर्थात् रक्षा न करनेसे साधुभी दुश्चरित्र होता है ॥ ३ ॥

एकदासौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखासीनः परिवारपरिवृतस्तिष्ठति । ततः कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्योपविष्टः । राजोवाच—दीर्घमुख, देशान्तरादागतोऽसि । वार्तां कथय । 'स ब्रूते—' देव अस्ति महती वार्ता । तां वक्तुं सत्वरमागतोऽहम् । श्रूयताम् । अस्ति जम्बुद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः । तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति । तस्यानुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं दग्धारण्यमध्ये चरन्नवलोकितः पृष्टश्च—' कस्त्वम् । कुतः समागतोऽसि । ' तदा मयोक्तम्—' कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहम् कौतुकाद्देशान्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि । ' एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्—' अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो राजा च । ' मयोक्तम्—' आः किमेवमुच्यते । महदन्तरम् । यतः कर्पूरद्वीपः स्वर्ग एव राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः । कथं वर्णयितुं शक्यते । अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ । अस्मद्देशो गम्यताम् । ' ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे सकोपा बभूवुः । तथा चोक्तम्—

एक समय वह राजहंस बडी फैली हुई कमलकी शय्यापर सुखसे बैठा परिवारसे आच्छादित था, उस समय किसी देशसे आय

दीर्घमुख नाम बगला प्रणाम करके बैठा, राजा बोला-हे दीर्घमुख ! तुम देशांतरसे आये हो कुछ समाचार कहो. वह बोला-हे देव ! वडी वात है, उसे कहनेको मैं शीघ्र आया हूं. सुनिये; जम्बूद्वीपमें विंध्याचल नाम पर्वत है, वहां चित्रवर्ण नाम मोर पक्षियोंका राजा वसता है. फिरते हुए उसके सेवक पक्षियोंने दग्धारण्यमें चलता हुआ मुझे देखा और पूछा कि-तू कौन है ? कहांसे आया है ? तौ मैंने कहा किं-मैं कर्पूरद्वीपके चक्रवर्ती राजा हिरण्यगर्भ राजहंसका सेवक हूं, कौतुकसे दूसरा देश देखनेको आया हूं. यह सुन पक्षियोंने कहा कि-इन दोनों देशोंमें कौनसा देश और कौनसा राजा श्रेष्ठ है ? मैंने कहा-अरे क्या वकते हो ? वडा अंतर है, क्योंकि, कर्पूरद्वीप स्वर्गही है और राजहंस दूसरा इन्द्र है. उसका वर्णन कौन कर सक्ता है ? यहां निर्जल स्थलमें पडे तुम क्या करते हो ? हमारे देशमें चलो तो मेरे वचनको सुन सव सकोप हुए. जैसा कि कहाहै

पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ।[1]
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥ ४ ॥[2]

सर्पोंको दूध पिलाना केवल विष बढाना है. निश्चयही मूर्खोंको उपदेश कोपके लिये है, शांतिके लिये नहीं ॥ ४ ॥

अन्यच्च ।

विद्वानेवोपदेष्टव्यो नाविद्वांस्तु कदाचन ।
वानरानुपदिश्याथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥'

औरभी । विद्वान्हीको उपदेश करना चाहिये, मूर्खोंको कभी नहीं. वानरोंको उपदेश देनेसे पक्षी स्थानभ्रष्ट हुए ॥ ५ ॥

राजोवाच-'कथमेतत् ।' दीर्घमुखः कथयति-

राजा बोला-यह कैसे ? दीर्घमुख बोला-

१ 'विषायैवामृताय न'। २ 'क्रोधायैव शमाय न' इ. पा. शु. नी.

कथा ॥ १ ॥

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणो निवसन्ति सुखेन । अथैकदा वर्षासु नीलपटलैरावृते नभस्तले धारासारैर्महती वृष्टिर्बभूव । ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थितान् शीताकुलान्कम्पमानानवलोक्य कृपया पक्षिभिरुक्तम्-' भो भो वानराः, शृणुत ।

नर्मदाके किनारे पर्वतकी तलैटीमें एक बडा सेमरका वृक्ष है. उसमें घोंसले बनाय पक्षी सुखसे रहते थे. इसके पीछे एक समय बरसातमें आकाशके नीले बादलोंसे आच्छादित होनेपर आंधीके वेगसहित बडी वर्षा हुई. तो वृक्षके नीचे स्थित, शीतसे पीडित, कंपायमान वानरोंको देख कृपासे पक्षियोंने कहा-हे वानरो ! सुनो.

अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः ।
हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमिति सीदथ ॥ ६ ॥ '

हमने तो चोंचसे तृण लाकर घोंसले बना लिये हैं, फिर हाथ पैर आदिसे युक्त तुम क्यों दुःखी हो रहे हो ? ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जातामर्षैरालोचितम्-' अहो निर्वातनीडगर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति । भवतु तावद्वृष्टेरुपशमः । ' अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नास्तेषामण्डानि चाधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि-' विद्वानेवोपदेष्टव्यः ' इत्यादि ।

यह सुन वानरोंने क्रोधसे विचारा कि, अहो ! वायुरहित घोंसलेंमें स्थित सुखी पक्षी हमारी निंदा करते हैं, सो पहले वृष्टिकी

शांति हो, इसके पीछे वर्षाकी शांति होनेपर उन वानरोंने वृक्षोंपर चढ सब घोंसले तोड डाले और उनके अंडे नीचे गिरा दिये. इससे मैं कहता हूं कि ' विद्वान्हीको उपदेश करे ' इत्यादि ।

राजोवाच-' ततस्तैः किं कृतम्। ' बकः कथयति-ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तम्-' केनासौ राजहंसो राजा कृतः। ' ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्-' युष्मदीयमयूरः केन राजा कृतः । एतच्छ्रुत्वा ते सर्वे मां हन्तुमुद्यताः । ततो मयापि स्वविक्रमो दर्शितः। यतः-

राजा बोला-फिर उन्होंने क्या किया ? बगला बोला-फिर उन पक्षियोंने क्रोधसे कहा कि, किसने उस राजहंसको राजा बनाया है ? तौ मैं कोपसे बोला कि-तुम्हारे मोरको किसने राजा किया ? यह सुन वे सब मुझे मारनेको उठे. तौ मैंनेभी अपना पराक्रम दिखाया. कारण कि-

अन्यदा भूषणं पुंसां क्षमा लज्जेव योषिताम् ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ७ ॥ '

और जगह पुरुषोंका भूषण क्षमा है, जैसे स्त्रियोंका भूषण लज्जा है; परन्तु पराजयमें पराक्रमही भूषण है, जैसे स्त्रियोंका रतिके समय धृष्टताही भूषण है ॥ ७ ॥

राजा विहस्याह-

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाबलम् ।
अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ॥ ८॥

राजा हँसकर बोला-अपने और दूसरोंके बलाबलको देखकर जो अंतर (फर्क) नहीं जानता, वह शत्रुओंसे तिरस्कार पाताहै ॥८॥

सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान्।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो वाग्दोषाद्गर्दभो हतः॥ ९॥'

औरभी–चीतेका चमडा ओढकर एक मूर्ख गधेने बहुत दिनतक पराया खेत खाया, परंतु फिर बोलनेके दोषसे मारा गया॥ ९॥

बकः पृच्छति–'कथमेतत्।' राजा कथयति–

बगलने पूछा–यह कैसे ? राजा बोला–

कथा॥ २॥

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः। तस्य गर्दभोऽतिवाहनाद्दुर्बलो मुमूर्षुरिवाभवत्। ततस्तेन रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्यारण्यसमीपे सस्यक्षेत्रे नियुक्तः। ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते। अथैकदा केनापि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुःकाण्डं सज्जीकृत्यानतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं च दूराद्दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो गर्दभोऽयमिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाणस्तदभिमुखं धावितः। सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दान्निश्चित्य गर्दभोऽयमिति लीलयैव व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि–'सुचिरं हि चरन्नित्यम्' इत्यादि॥

हस्तिनापुरमें विलास नाम एक धोबी था, उसका गधा बहुत बोझा उठानेसे दुबला हो मुर्देके समान हो गया, तो उस धोबीने उसे चीतेकी खाल उढाकर वनके समीप अन्नके खेतमें नियुक्त किया, तो दूरसे उसे देख व्याघ्र जानकर खेतके स्वामी शीघ्र भाग

गये, इस पीछे एक समय कोई अन्नका रक्षक धूसर कम्बलसे शरीरकी रक्षा किये, धनुष, वाण तैयार करके नीची काय। कर एकान्तमें खडा हुआ. उसे दूरसे देख इच्छापूर्वक अन्न खानेसे वल प्राप्त होनेके कारण हृष्ट पुष्ट शरीरवाला यह गधा उसे अन्य गधा जानकर ऊंचा शब्द करता हुआ उसके सन्मुख दौडा. अन्नके रक्षकने चीत्कार शब्दसे निश्चय करके कि यह गधा है, लीला करकेही मार डाला, इससे मैं कहता हूं कि–'चिरकालसे चरता हुआ' इत्यादि.

दीर्घमुखो ब्रूते–'ततः पक्षिभिरुक्तम्–'अरे पाप दुष्ट बक, अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि तन्न क्षन्तव्यमिदानीम्' इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा सकोपा ऊचुः–'पश्य रे मूर्ख, स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः। तस्य राज्याधिकारो नास्ति। यत एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः। स कथं पृथिवीं शास्ति राज्यं वा तस्य किम्। किंतु त्वं च कूपमण्डूकः। तेन तदाश्रयमुपदिशसि। शृणु–

दीर्घमुख बोला,–तो पक्षियोंने कहा–अरे दुष्ट पापी बगले! हमारी भूमिमें विचरता हुआ हमारे स्वामीकी निंदा करता है, इस लिये अब क्षमा करने योग्य नहीं है, यह कह सब मुझे चोंचसे मार कोपसे बोले! देख रे मूर्ख! वह हंस तेरा राजा सब प्रकार कोमल (निस्तेज) है, अत एव वह राज्यका अधिकारी नहीं है, क्योंकि, सर्व निस्तेज पुरुष हथेलीमें रक्खे हुए धनकी रक्षा करनेकोभी समर्थ नहीं हो सक्ता वह कस पृथ्वीकी रक्षा करता है? अथवा उसका राज्य क्या है? किंतु तूभी कुएका मैंडक है, इसीसे उसके आश्रयका उपदेश करता है, सुन–

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात्फलं नास्ति च्छाया केन निवार्यते॥१०॥

फल और छायायुक्त बडे वृक्षका आश्रय लेना चाहिये, जो दैवसे फलभी न रहे तो छायाको कौन रोक सक्ता है ॥ १० ॥

अन्यच्च ।

हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते ॥११॥

औरभी–नीचकी सेवा न करनी चाहिये, बडेका आश्रय करना चाहिये, क्योंकि शौंडिकी (कलाल) के हाथमें दूधभी मदिरा कहा जाता है ॥ ११ ॥

अन्यच्च ।

महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १२ ॥

औरभी–आधार (रहनेका स्थान) आधेय (रहनेवाला) के भावसे निर्गुणमें स्थित गुणीभी नीचताको पाता है, जैसे दर्पणमें हाथी ॥ १२ ॥

किन्तु ।

अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।
राममासाद्य लंकायां लेभे राज्यं बिभीषणः ॥ १३ ॥

औरभी–सिंहकी कृपासे बकरीभी वनमें निर्भय हो विचरने लगती ह श्रीरामका आश्रय पाय बिभीषणको लंकाका राज्य मिला था॥१३॥

विशेषतश्च ।

व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते ॥ १४ ॥'

१ यहां ' दर्पण ' कहनेसे कदाचित् ' चित्रपट ' का अभिप्राय है क्योंकि हाथी चाहे जितना बडा हो परन्तु लघु चित्रमें उसका आकारभी लघुही होता है इसी प्रकार आधारके गुण दोषानुसार पुरुषादिमेंभी गुणदोषका आरोप होता है ।

और विशेष यह है कि–बडे शक्तिमान् राजाके बहानेसेभी सिद्धि हो जाती है, जैसे चंद्रमाके बहानेसे खर्गोश सुखी रहने लगे ॥१४॥

मयोक्तम्–'कथमेतत्।' पक्षिणः कथयन्ति–

मैंने कहा–यह कैसे ? पक्षी बोले–

कथा ॥ ३ ॥

कदाचिदपि वर्षासु वृष्टेरभावात्तृषार्तो गजयूथो यूथपतिमाह–'नाथ, कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय। नास्ति क्षुद्रजन्तूनां निमज्जनस्थानम्। वयं च निमज्जनस्थानाभावान्मृताहा इव। किं कुर्मः। क्व यामः।' ततो हस्तिराजो नातिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान्। ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिता गजपादाहतिभिश्चूर्णिताः क्षुद्रशशकाः। अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयन्नाह–'अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन प्रत्यहमत्रागन्तव्यम्। अतो विनश्यत्यस्मत्कुलम्।' ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्–'मा विषीदत। मयात्र प्रतीकारः कर्तव्यः।' ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः। गच्छता च तेनालोचितम्–'कथं गजयूथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम्। यतः–

कभी वर्षाऋतुमें वर्षा न होनेसे प्याससे पीडित हो हाथियोंका यूथ (झुंड) यूथपतिसे बोला–हे नाथ ! हमारे जीनेका क्या उपाय है ? छोटे जीवोंके स्नानकाभी स्थान नहीं है, और हम स्नानका स्थान न होनेसे मृतकके समान हैं, क्या करें ? कहां जाय ? तो हाथियोंके राजाने समीपमें जाकर एक निर्मल तालाव

दिखाया, तो कुछ दिन बीचनेपर उसके किनारेपर रहनेवाले छोटे खर्गोश हाथियोंके पैरोंके ताडनसे पिच मरे, तब शिलीमुख खर्गोशने सोचकर कहा कि–तृषासे पीडित यह हाथियोंका झुण्ड प्रतिदिन यहां आता है इससे हमारा कुल नष्ट होता है, तो विजय-नाम एक बूढा खर्गोश बोला कि–विषाद न करो. मैं इसका उपाय करूंगा, यह प्रतिज्ञा करके वह चला और उसने चलते २ सोचा कि–कैसे हाथियोंके झुण्डके समीप खडा होकर बोलूंगा? क्योंकि–

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।
पालयन्नपि भूपालः प्रहसन्नपि दुर्जनः ॥ १५ ॥

हाथी छूतेही, सांप सूंघतेही, राजा पालता हुआ, दुर्जन हँसता हुआभी मार डालता है ॥ १५ ॥

अतोऽहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि ।' तथानुष्ठिते यूथनाथ उवाच– 'कस्त्वम् । कुतः समायातः ।' स ब्रूते–'शशकोऽहम् । भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः ।' यूथपतिराह–'कार्यमुच्यताम् ।' विजयो ब्रूते–

सो मैं पर्वतकी चोटीपर चढ यूथपतिसे कहूंगा, ऐसा करनेसे यूथका राजा बोला–तू कौन है, कहांसे आया है? वह बोला–कि मैं खर्गोश ' मुझे भगवान् चंद्रमाने आपके पास भेजा है. यूथका स्वामी बोला–कार्य कहिये. विजय बोला–

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ।
सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः ॥ १६ ॥

शस्त्र उठानेपरभी दूत झूंठ नहीं कहता, क्योंकि, वह अवध्य होनेसे सत्यही कहनेवाला है ॥ १६ ॥

---

१ ' यथोक्तं शासनं वदेत् । रागापरागौ जानीयात् प्रकृतीनां च भर्त्तरि ॥'

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि। शृणु। यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम्। ते शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः। अत एव मे शशाङ्क इति प्रसिद्धिः।' एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह—'प्रणिधेहि। इदमज्ञानतः कृतम्। पुनर्न कर्तव्यम्।' दूत उवाच—'यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य प्रसाद्य गच्छ।' ततो रात्रौ यूथपतिं नीत्वा जले चञ्चलं चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा यूथपतिः प्रणामं कारितः। उक्तं च तेन—'देव, अज्ञानादनेनापराधः कृतः। ततः क्षम्यताम्। नैवं वारान्तरं विधास्यते।' इत्युक्त्वा तेन शशकेन स यूथपतिः प्रस्थापितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्' इति॥

सो मैं उनकी आज्ञासे कहता हूं सुनो, जो यह चंद्रसरोवरके रक्षक खर्गोश तुमने निकाले हैं सो अयोग्य किया. वे खर्गोश चिरकालसे हमारे रक्षा किये हुए हैं. इसहीसे मेरा 'शशांक' यह प्रसिद्ध नाम है, दूतके यह कहनेपर यूथपति भयसे बोला—क्षमा करो, यह विना जाने किया गया, फिर न किया जावेगा. दूत बोला—जो ऐसा है तो इस सरोवरमें कोपसे कांपते हुए भगवान् शशांक (चंद्रमा) को प्रणाम करके और प्रसन्न करके जाओ, सो रात्रिमें यूथपतिको ले जाकर जलमें चलायमान चंद्रमाका प्रतिविम्ब दिखा यूथपतिसे प्रणाम कराया, और उसने कहा कि—हे देव! इसने विना जाने अपराध किया, सो क्षमा कीजिये फिर दूसरी वार ऐसा न करेगा. ऐसा कह खरगोशने उस यूथपतिको

विदा कराया. इससे मैं कहता हूं कि—वडोंके मिससेभी सिद्धि हो जाती है; इत्यादि ।

ततो मयोक्तम्— 'स एवास्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः । त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते किं पुना राज्यम्' इति । तदाहं तैः पक्षिभिः—'दुष्ट, कथमस्मद्भूमौ चरसि' इत्यभिधाय राज्ञाश्चित्रवर्णस्य समीपं नीतः । ततो राज्ञः पुरो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम्—' देव, वध्यतामेष दुष्टो बको यदस्मदेशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति ।' राजाह—' कोऽयम् । कुतः समायातः ।' त ऊचुः—' हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः कर्पूरद्वीपादागतः ।' अथाहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—' कस्तत्र मुख्यो मन्त्री' इति । मयोक्तम्—' सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः ।' गृध्रो ब्रूते—' युज्यते । स्वदेशजोऽसौ । यतः—

फिर मैं बोला—वह हमारा स्वामी राजहंसही बडा प्रतापी और समर्थ है. तीनों लोकोंकाभी स्वामित्व उसके योग्य है फिर राज्यपद क्या है. तो वे पक्षी हे दुष्ट ! कैसे हमारी पृथ्वीपर फिरता है, यह कह मुझे राजा चित्रवर्णके पास ले गये; तों राजाके आगे उन्होंने मुझे दिखा, प्रणाम करके कहा हे देव ! मारिये इस दुष्ट बगलेको, जो हमारे देशमें फिरता हुआभी आपके चरणोंकी निंदा करता है. राजा बोला—यह कौन है ? कहांसे आया है ? वे बोले—हिरण्यगर्भ नाम राजहंसका सेवक कर्पूरदेशसे आया है. तो गीध मंत्रीने मुझसे यह पूंछा. वहां कौन मुख्य मंत्री है ? मैं बोला—सब शास्त्रोंका तत्व जाननेवाला सर्वज्ञ नाम चकवा है. गीध बोला—योग्य है अपने देशमें उत्पन्न होनेवाला है. कारण कि—

स्वदेशजं कुलाचारं विशुद्धमथवा शुचिम्।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं व्यभिचारविवर्जितम्॥ १७॥

अपने देशमें उत्पन्न होनेवाले, कुलका धर्म करनेवाले, विशुद्ध, पवित्र, मंत्र (सलाह) जाननेवाले, व्यसनरहित, व्यभिचारसे रहित॥ १७॥

अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं विपश्चितम्।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः॥१८॥'

व्यवहारके अर्थको जानता हो; कुलीन प्रसिद्ध और विद्वान् हो तथा धनको उत्पन्न करनेवाला हो राजाको चाहिये कि ऐसे पुरुषको मंत्री बनावे॥ १८॥

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्-'देव, कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बुद्वीपान्तर्गता एव। तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम्।' ततो राज्ञाप्युक्तम्-'एवमेव। यतः-

फिर तोता बोला-हे देव! कर्पूरद्वीपादिक छोटे द्वीप जम्बूद्वीपकेही अंतर्गत हैं वहांभी आपहीका स्वामित्व है, तो राजानेभी कहा कि ऐसाही है. क्योंकि-

राजा मत्तः शिशुश्चैव प्रमादी धनगर्वितः।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्॥१९॥

राजा, मत्त, बालक, प्रमादी और धनका अभिमान करनेवाला ये सब दुर्लभकीभी इच्छा करते हैं, तौ फिर जो मिल सक्ता है उसके लिये तौ कहनाही क्या है॥ १९॥

ततो मयोक्तम्-' यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्यं सिद्ध्यति तदा जम्बुद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य

१ रिशवत आदि लेनेसे जिसका चरित्र दूषित न हो।

स्वाम्यमास्ति ।' शुको ब्रूते-'कथमत्र निर्णयः ।' मयोक्तम्-'संग्राम एव ।' राज्ञा विहस्योक्तम्-'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जी कुरु ।' तदा मयोक्तम्-'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम् ।' राजोवाच-'कः प्रयास्यति दौत्येन' यत एवंभूतो दूतः कार्यः ।

तो मैं बोला-जो कहनेसेही स्वामित्व सिद्ध होता, तो जम्बूद्वीपमेंभी हमारे स्वामी हिरण्यगर्भकाही स्वामित्व है. तोता बोला-इसका निर्णय कैसे हो. मैं बोला-संग्राममें. राजा हँसके बोला-अपने स्वामीको जाकर तैयार करो. तो मैं बोला-अपना दूतभी भेजिये. राजा बोला-कौन दूत होकर जावेगा. क्योंकि, ऐसा दूत करना चाहिये.

भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।
ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभाववान् ॥२०॥'

भक्त, गुणी, पवित्र, चतुर, प्रगल्भ, व्यसनरहित, क्षमावान्, ब्राह्मण, पराये भेदका जाननेवाला और बुद्धिमान् दूत होता है ॥ २० ॥

गृध्रो वदति-'सन्त्येव दूता बहवः । किंतु ब्राह्मण एव कर्तव्यः । यतः-

गीध बोला-दूत तो बहुतसे हैं. परंतु, ब्राह्मणहीको करना चाहिये. कारण कि-

प्रसादं कुरुते पत्युः संपत्तिं नाभिवाञ्छति ।
कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसंगमात् ॥ २१ ॥'

वह स्वामीकी प्रसन्नताको करता है, संपत्तिकी इच्छा नहीं करता, जैसे ईश्वरके संग होनेसेभी विषकी श्यामता नहीं जाती ॥ २१ ॥

१ जैसे महादेवके साथ रहकरभी विषका स्वाभाविक श्याम गुण दूर न हुआ ऐसेही ब्राह्मणोंकाभी स्वभाव कभी नहीं बदलता ।

राजाह-'ततः शुक एव व्रजतु । शुक, त्वमेवानेन सह गत्वास्मदाभिलषितं ब्रूहि । ' शुको ब्रूते-'यथाज्ञापयति देवः । किंत्वयं दुर्जनो बकः । तदनेन सह न गच्छामि । तथा चोक्तम्-

राजा बोला-तौ तोताही जावे, हे तोते ! तूही इसके साथ जाकर मेरी इच्छाको कह. तोता बोला-देव ! जैसी आज्ञा सो करते हैं, परंतु यह बगला दुष्ट है, इसलिये इसके साथ नहीं जाऊंगा, जैसा कि कहा है-

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु ।
दशाननोऽहरत्सीतां बन्धनं स्यान्महोदधेः ॥ २२ ॥

दुष्ट तो दुष्टता करता है, और वह निश्चय साधुओंमें फलती है. जैसे रावणने सीता हरी और समुद्रका बंधन हुआ ॥ २२ ॥

अपरं च ।

न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन्गच्छंश्च वर्तकः ॥ २३ ॥'

औरभी-दुष्टके साथ कहीं न जाना चाहिये और न ठहरनाही चाहिये, कौवेके संग बैठा हुआ हंस और जाती हुई बटेर मारी गई ॥ २३ ॥

राजोवाच-' कथमेतत् ' शुकः कथयति-

राजा बोला-यह कैसे, तोता बोला-

कथा ॥ ४ ॥

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरुः । तत्र हंसकाकौ निवसतः । कदाचिद्ग्रीष्मसमये परिश्रान्तः कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुःकाण्डं संनिधाय सुप्तः । तत्र क्षणा-

न्तरे तन्मुखाद्वृक्षच्छायापगता । ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य तद्वृक्षस्थितेन हंसेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे छाया कृता । ततो निर्भरनिद्रासुखिना तेन मुखव्यादानं कृतम् । अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः । ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते तावत्तेनावलोकितो हंसः काण्डेन हतो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि 'न स्थातव्यम्' इत्यादि । तथा चोक्तम्–

उज्जयिनीके मार्गके निकट एक पिलखनका वृक्ष है, वहां हंस और कौवा रहा करता था. कभी ग्रीष्मसमय (गरमीके मौसम) में थका हुआ कोई पथिक (मुसाफिर) वृक्षके नीचे धनुषबाण धरकर सोया, क्षणमात्रमें उसके मुँहसे वृक्षकी छाया दूर हुई, सो सूर्यकी धूपसे उसके मुँहको व्याप्त देख उस वृक्षपर बैठे हुए हंसने कृपासे पंख फैला फिर उसके मुँहपर छाया की. तो भरी निद्रामें सुखसे सोते हुए उसने मुख फैला दिया, तो पराये सुखको न सहनेवाला स्वभावकी दुष्टतासे वह कौवा उसके मुखमें वीट करके भाग गया. जब उस मुसाफिरने उठकर ऊपरको देखा तो हंसको देखके तीर चलाकर उसे मार डाला. इससे मैं कहता हूं कि दुर्जनके साथ न रहे । कहाभी है–

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥ २४ ॥

दुर्जनका संग छोड और साधु महात्माओं (सज्जनों) का संग कर, रात दिन पुण्य कर और संसारको सदा अनित्य जानता रह ॥ २४ ॥

देव, वर्त्तककथामपि कथयामि श्रूयताम्।

हे देव! सुनिये, बटेरकी कथाभी कहता हूं.

कथा ॥ ८ ॥

एकः कोऽपि काकः वृक्षशाखायां स्वपिति। वर्त्तकश्चाधस्ताद्भूमौ निवसति।

एक कोई काक वृक्षकी शाखापर रहता और बटेर वृक्षके नीचे भूमिपर रहता था।

एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गताः। ततः काकेन सह वर्तकश्चलितः। अथ गोपालस्य गच्छतो दधिभाण्डाद्वारंवारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते तावत्तेन काकवर्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन खेदितः काकः पलायितः। वर्तकः स्वभावनिरपराधो मन्दगतिस्तेन प्राप्तो व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि–'न स्थातव्यं न गन्तव्यम्' इत्यादि॥

एक समय भगवान् गरुडकी यात्राके प्रसंगसे सब पक्षी समुद्रके किनारेपर गये, तो कौवेके साथ बटेरभी चली, इसके पीछे जाते हुए ग्वालियेके दहीके बर्तनमेंसे वारबार कौवेने दही खाया, तो ज्योंही इसने दहीका बर्तन पृथ्वीमें रख ऊपर देखा. तो उसने कौवे और बटेरको देखा, जब उसने डराया तब कौवा तो उड गया बटेर स्वभावसे विना अपराध धीरे धीरे चलती हुई, उसने पकड ली और मार डाली. इससे मैं कहता हूं कि–दुष्टके साथ न रहना चाहिये न जाना, इत्यादि।

ततो मयोक्तम्–' भ्रातः शुक, किमेवं ब्रवीषि।

मां प्रति यथा श्रीमद्देवस्तथा भवानपि ।' शुकेनोक्तम्-'अस्त्वेवम् । किन्तु-

फिर मैं बोला-भाई तोते ! यह क्या कहता है, मेरे समीप तो जैसे महाराज हैं वैसेही आपभी हैं. तोता बोला-यह ठीकही सही परंतु-

दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि प्रियाण्यपि ।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि ॥ २५ ॥

दुर्जनोंके कहे हुए अपने अनुकूल और प्रियवचनभी वेसमयके पुष्पोंकी समान भयही उत्पन्न करते हैं ॥ २५ ॥

दुर्जनत्वं च भवतो वाक्यादेव ज्ञातं यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव निदानम् । पश्य-

और दुष्टता तो आपके वचनसेही जानी गई, जो कि इन दोनों राजाओंकी लडाईमें आपका वचनही आदि कारण है देखो-

प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति ।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाकरोत् ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष किये हुए दोषमेंभी मूर्ख बहलानेसे प्रसन्न हो जाता है; जैसे रथकारने जारसहित अपनी जारस्त्रीको शिरपर धारण किया था ॥ २६ ॥

मयोक्तम्-'कथमेतत् ।' शुकः कथयति-

मैंने कहा-यह कैसे ? तोता बोला-

कथा ॥ ६ ॥

अस्ति श्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः । स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति, परं जारेण समं स्वचक्षुषा

१ 'अद्भुतानि प्रसूयन्ते तत्र देशस्य विद्रवः । अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारणम् ॥' कुसुमय फल फूलोंके अद्भुत दर्शनसे देशमें उपद्रवही होता है ।

नैकस्थाने पश्यति। ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्यं ग्रामं गच्छामि' इत्युक्त्वा चलितः। कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य पर्यङ्कतले स्वगृहे निभृतं स्थितः। अथ रथकारो ग्रामान्तरं गत इत्युपजातविश्वासः स जारः संध्याकाल एवागतः पश्चात्तेन सह तस्मिन्पर्यङ्के क्रीडन्ती पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किंचिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनमिति विज्ञाय विषण्णाभवत्। ततो जारेणोक्तम्–'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे। विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम्।' तयोक्तम्–'अनभिज्ञोऽसि मम प्राणेश्वरो येन ममाकौमारं सख्यं सोऽद्य ग्रामान्तरं गतः। तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवद्भाति। किं भावि तत्र परस्थाने किं खादितवान्कथं वा प्रसुप्त इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते।' जारो ब्रूते–'तव किमेवं स्नेहभूमी स कलहकरः रथकारः।' बन्धक्यवदत्–'रे बर्बर, किं वदसि। शृणु–

नगरमें मंदमति नाम रथकार (बढई) है, वह अपनी स्त्रीको व्यभिचारिणी (छिनार) जानता है परंतु उसे जारके साथ अपनी आंखसे एक स्थानमें नहीं देख सक्ता था तब वह रथकार "मैं दूसरे गांवको जाता हूं" यह कहकर चला, कुछ दूर जाकर फिर आकर पलँगके नीचे अपने घर चुपके बैठ गया इस पीछे रथकार गांवको गया, ऐसा विश्वास होनेसे वह जार सायंकालहीको आ गया. फिर वह स्त्री उसके साथ उस पलँगपर क्रीडा करती हुई. पलँगके नीचे स्थित पतिके किसी अंगके छूनेस माया करनेवाला स्वामी है. यह जान दुःखी हुई तो जार बोला–क्यों तू मेरे

साथ अच्छी प्रकार रमण नहीं करती, तू मुझे विस्मितसी जान पडती है, उसने कहा तू नहीं जानता है, मेरा प्राणेश्वर जिससे मेरी कुमार अवस्थासे मित्रता है वह आज दूसरे गांवको गया है, उसके विना सब मनुष्योंसे भराभी गांव मुझे वनकी समान दीखता है, वहां परदेशमें क्या खाया होगा कैसे सोया होगा, इससे मेरा हृदय फटता है, जार बोला—क्या लडांका रथकार तेरा ऐसा स्नेही है ? लम्पटा बोली—रे मूर्ख ! क्या कहता है सुन—

परुषाण्यपि या प्रोक्ता दृष्टा या क्रोधचक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभागिनी ॥ २७ ॥

पतिके द्वारा क्रोधकी आंखोंसे देखी हुई, कठोर वचन कही हुई, जो स्त्री पतिके आगे प्रसन्नमुख रहे, वह धर्मभागिनी है ॥ २७ ॥

अपरं च ।

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुचिः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः २८

औरभी—नगरमें रहनेवाला, वनमें रहनेवाला, पापी । पवित्र पति जिन स्त्रियोंको प्यारा है, उनको संसारमें बडी बडाई है ॥२८॥

अन्यच्च ।

भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा विरहिता तेन शोभनापि न शोभना ॥ २९ ॥

औरभी—भूषण विना स्त्रीका पतिही परम भूषण है, उससे रहित सुन्दर स्त्रीभी शोभावाली नहीं होती है ॥ २९ ॥

त्वं जारः पापमतिः । मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित्सेव्यसे कदाचिन्न सेव्यसे च । स स्वामी

१ 'चोक्ता या दृष्टा क्रुद्धेन चक्षुषा' २ 'या नारी सा पतिव्रता'

इ. पा. म. भा.

मां विक्रेतुं देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्योऽपि दातुमीश्वरः। किं बहुना। तस्मिञ्जीवति जीवामि तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामीति प्रतिज्ञा वर्तते। यतः–

तू जार पापबुद्धि है, मनकी चंचलतासे फल पानकी समान कभी भोगा जाता और कभी नहीं भोगा जाता है. वह स्वामी मुझे वेचनेको और देवता वा ब्राह्मणोंकोभी देनेके लिये समर्थ है. बहुत कहनेसे क्या उसके जीनेसे जीती हूं. उसके मरनेके पीछे मरूंगी. यह मेरी प्रतिज्ञा है. कारण कि–

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति॥ ३०॥

मनुष्यके जितने रोम हैं, उतने समयतक अर्थात् सांडे तीन करोड वर्षतक वह स्त्री जो पतिके पीछे मरती है, स्वर्गमें वसती है॥ ३०॥

अन्यच्च।

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
तद्वद्भर्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते॥ ३१॥

औरभी–जैसे सर्पका पकडनेवाला बलपूर्वक सर्पको बिलसे निकालता है, वैसेही पतिको लेकर स्वर्गलोकमें पतिव्रता स्त्री जाती है॥ ३१॥

अपरं च।

चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः।

१ 'तावन्त्यब्दानि सा' इ. पा. अं. स्मृ. २ साडे तीन करोडसे अनन्त समझने चाहिये।

कृत्वापि पापं शतसंख्यमप्यसौ
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥

औरभी–मरे हुए पतिको चितामें आलिंगन करके जो स्त्री अपने प्रिय देहको छोडती है, वह अनेक पाप करकेभी पतिको लेकर स्वर्गलोकमें पहुँचती है ॥ ३२ ॥

यतः ।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितिं च न लंघयेत् ॥३३॥'

क्योंकि–जिसे पिताने वा पिताकी अनुमतिसे भ्राताने दान कर दिया हो, स्त्रीको चाहिये कि जीते जी उसकी सेवा करे और मर्यादाका उल्लंघन न करे ॥ ३३ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा स रथकारोऽवदत्–' धन्योऽहं यस्येदृशी प्रियवादिनी स्वामिवत्सला भार्या ' इति मनसि निधाय तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा सानन्दं ननर्त । अतोऽहं ब्रवीमि–' प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे ' इत्यादि ॥

यह सब सुन वह रथकार बोला–मैं धन्य हूं कि, जिसकी ऐसी प्रिय वचन कहनेवाली, स्वामीको प्रीति करनेवाली स्त्री है ऐसा मनमें धारण कर स्त्रीपुरुषसहित उस खाटको शिरपर धर आनंदसे नाचने लगा. इसलिये मैं कहता हूं कि, प्रत्यक्ष किये दोषमेंभी इत्यादि ।

ततोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं संपूज्य प्रस्थापितः। शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते । एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्तव्यमनुसंधीयताम् । ' चक्रवाको विहस्याह–

'देव, बकेन तावद्देशान्तरमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम्। किंतु देव, स्वभाव एष मूर्खाणाम्। यतः–

फिर उस राजाने मुझे व्यवहारपूर्वक सत्कार कर भेजा तोताभी मेरे पीछे चला आता है, यह सब जानकर जैसा करना चाहिये सो कीजिये. चक्रवाक हँसकर बोला–हे देव! बगलेने तो पहले देशांतरकोभी जाकर यथाशक्ति राजकाज किया. परंतु हे देव! मूर्खोंका यह स्वभाव है. क्योंकि–

शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य संमतम्।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्॥ ३४॥

सैकडों दे और विवाद न करे, यह ज्ञानीकी संमति है. विना कारणभी कलह करना यह मूर्खका लक्षण है॥ ३४॥

राजाह–'किमतीतोपालम्भनेन। प्रस्तुतमनुसंधीयताम्।' चक्रवाको ब्रूते–'देव, विजने ब्रवीमि। यतः–

राजा बोला–पिछले कथनसे क्या? अब करने योग्य कार्य करना चाहिये. चकवा बोला–देव एकांतमें कहूंगा, क्योंकि–

वर्णाकारप्रतिध्वानैर्नेत्रवक्त्रविकारतः।
अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्॥ ३५॥'

रूपद्वारा, चेष्टाद्वारा, शब्दद्वारा, नेत्र तथा मुँहके विकारसे विद्वान् मनुष्य मनकी बात जान लेते हैं इसलिये एकान्तमें संमति करनी चाहिये॥ ३५॥

राजा मन्त्री च तत्र स्थितौ। अन्येऽन्यत्र गताः। चक्रवाको ब्रूते–'देव, अहमेवं जानामि। कस्याप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्। यतः–

राजा मंत्री वहां रहे और सब और जगह चले गये. चकवा बोला–देव ! मैं ऐसा जानता हूं. कि किसी हमारे सेवककी प्रेरणासे बगलेने ऐसा किया है. क्योंकि–

वैद्यानामातुरः श्रेयान्व्यसनी यो नियोगिनाम् ।
विदुषां जीवनं मूर्खः सद्वर्णो जीवनं सताम् ॥ ३६ ॥'

वैद्योंको रोगी, नियोगियोंको व्यसनी, विद्वानोंको मूर्ख जीवन है. श्रेष्ठोंका जीवन उत्तम वर्ण है ॥ ३६ ॥

राजाब्रवीत्–' भवतु । कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम् । संप्रति यत्कर्तव्यं तन्निरूप्यताम् । ' चक्रवाको ब्रूते– ' देव, प्रणिधिस्तावत्प्रहीयताम् । ततस्तदनुष्ठानं बलाबलं च जानीमः । तथा हि–

राजा बोला–जो हो. इसका कारण फिर देखा जायगा अब जो करना चाहिये, उसे निश्चय करना योग्य है. चकवा बोला–देव ! पहले प्रणिधि (दूत) भेजना चाहिये. कि जिससे हम उसके कर्तव्य और बलाबलको जाने, कहा है–

भवेत्स्वपरराष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने ।
चारचक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ ३७ ॥

राजाका अपने और पराये राज्योंके कार्य अकार्यके देखनेको दूतही नेत्र है. जिसके वह नहीं है सो अंधा है ॥ ३७ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु । तेनासौ स्वयं तत्रावस्थाय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य निगद्य प्रस्थापयति । तथा चोक्तम्–

और वह दूसरे विश्वासपात्रको साथ लेकर जावे. और आप वहां रहकर दूसरेको वहांके मंत्रकार्यको अच्छी प्रकार निश्चयकरके कहला भेजे. जैसा कहा है–

तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवदेत् ॥ ३८ ॥

तीर्थ, आश्रम और देवालयमें शास्त्रविज्ञानके हेतुसे तपस्वियोंके चिह्नसे युक्त अपने दूतोंसे बात चीत करनी चाहिये ॥ ३८ ॥

गूढचारश्च यो जले स्थले चरति । ततोऽसावेव बको नियुज्यताम् । एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु । तद्गृहलोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु । किंतु देव, एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । यतः—

गूढ दूत वह है, जो जल और स्थलमें चल सकता हो उससे इस कारण इस बगलेहीको नियत करना चाहिये, ऐसाही कोई बगला दूसरा जाय और उसके घरके लोग राजद्वारमें रहें, परंतु आप यहभी छिपाकर कीजिये. क्योंकि—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ॥ ३९ ॥

छः कानोंकी सम्मति टूट जाती है और वैसेही बातचीतसे पहुँचाई जाती है. इसलिये राजाको उचित है कि, एक आप और एक दूसरेके साथ विचार करे ॥ ३९ ॥

पश्य।

मन्त्रभेदेऽपि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम् ४०

देखिये ! राजाके मंत्र भेद अर्थात् संमतिके प्रगट होनेसे जो दोष

---

१ 'तीर्थाश्रमाश्रयस्थाने' २ 'संवसेत्' इ. पा. ३ 'चतुष्कर्णश्च धार्यते। द्विकर्णस्य तु मंत्रस्य ब्रह्माप्येको न बुध्यते ॥ इ. पा. ग. पु. ४ 'दूषणं मन्त्रभेदेषु नृपाणां यद्विजायते। न तच्छक्यं समाधातुं दक्षैर्नृपशतैरपि ॥' इ. पा. का. पु. ५ 'हि' ६ 'पृथिवीक्षिताम्' ७ 'कथंचिदिति मे मतिः' इ. पा.

होते हैं उनका समाधान नहीं हो सक्ता यह नीति जाननेवालोंका मत है ॥ ४० ॥

राजा विमृश्योवाच–'प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः।' मन्त्री ब्रूते–'तदा सङ्ग्रामविजयोऽपि प्राप्तः।' अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच–'देव, जम्बुद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति।' राजा चक्रवाकमालोकते। चक्रवाकेणोक्तम्–'तावद्गत्वावासे तिष्ठतु पश्चादानीय द्रष्टव्यः।' प्रतीहारस्तमावासस्थानं नीत्वा गतः। राजाह–'विग्रहस्तावत्समुपस्थितः।' चक्रो ब्रूते–'देव, प्रागेव विग्रहो न विधिः। यतः–

राजा सोचकर बोला–अब मैंने अच्छा दूत पाया है. मंत्री वाला–तो युद्धमेंभी विजय पाई. इसी बीचमें द्वारपाल आ प्रणाम कर बोला–हे देव! जम्बुद्वीपसे आया हुआ तोता बाहर खडा है. राजा चकवेको देखने लगा. चकवा बोला–तब जाकर एक स्थानमें ठहर. पीछे बुलाकर देखना चाहिये. द्वारपाल उसे निवासस्थानको ले गया. राजा बोला–अब विग्रह तो उपस्थित हुआ. चकवा बोला–हे देव! पहलेही विग्रह न करना चाहिये. क्योंकि–

स किं भृत्यः स किं मन्त्री य आदावेव भूपतिम्।
युद्धोद्योगं स्वभूत्यागं निर्दिशत्यविचारितम् ॥४१॥

वह क्या सेवक और क्या मंत्री है. जो विना विचारे, पहलेही राजाको युद्धका उद्योग और अपनी भूमिका त्याग समझाता है॥४१॥

अपरं च।

विचेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः॥४२॥

आरभा-शत्रुओंको जीतनेक लिये युद्धसे कभी यत्न न करे, क्याकि-दोनों युद्ध करनेवालोंकी विजय अनित्य देखी है ॥ ४२ ॥

अन्यच्च।

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
साधितुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ ४३ ॥

औरभी-सामसे, दानसे, भेदसे अथवा समस्त इन उपायोंसे शत्रुओंको वश करनेका यत्न करे, युद्धसे कभी न करे ॥ ४३ ॥

अपरं च।

सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि ॥ ४४ ॥

औरभी-युद्ध विनां किये सव मनुष्य शूर हैं, विना दूसरोंकी सामर्थ्य देखे कौन घमंडी नहीं होता है ॥ ४४ ॥

किं च।

न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत् ॥ ४५ ॥

औरभी-शरीरधारियोंसे शिला इस प्रकार सहजसे नहीं उठाई जाती. जैसे कि काष्ठसे, थोडे उपायसे वडी सिद्धि होती है, यही सम्मतिका वडा फल है ॥ ४५ ॥

किंतु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम्। यतः-
परंतु विग्रहको उपस्थित देखकर व्यवहार करना चाहिये. क्योंकि-

यथाकालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत्।
तद्वन्नीतिरियं देव चिरात्फलति रक्षणात् ॥ ४६ ॥

जैसे समयपर किये हुए उपायसे खेती फलवती होती है, हे देव! ऐसेही यह नीति बहुत समयके रक्षा करनेसें फलती है ॥ ४६ ॥

अपरं च ।

महतो दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः ।
विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति ॥ ४७ ॥

औरभी-जबतक कोई कार्य उपस्थित न हुआ हो तबतक दूरसे भीरुता और समीपमें शूरता यही बडोंका गुण है, बडे लोग विपत्तिमें धीरता करते हैं ॥ ४७ ॥

अन्यच्च ।

प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ॥४८॥

औरभी-धीरज छोडनाही सम्पूर्ण सिद्धियोंका विघ्न है, अत्यन्त ठंढाभी जल क्या वह पहाडको नहीं तोडता ॥ ४८ ॥

विशेषतश्च महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा । यतः-
विशेष यह है कि चित्रवर्ण राजा बडा बलवान् है. इसी कारण-

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमावहेत् ॥ ४९ ॥

बलवान्के साथ लडना शास्त्रविधि नहीं है, हाथियोंके साथ मनुष्योंके युद्ध करनेसे मृत्युही होती है ॥ ४९ ॥

अन्यच्च ।

स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तरि वर्तते ।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्यमो यथा ॥ ५० ॥

औरभी-वह मूर्ख है, जो समयको न पाकर शत्रुओंके ऊपर चढता है, बलवान्के साथ युद्ध करना ऐसा है, जैसे कीडेके पंख निकालकर मृत्युका कारण होते हैं ॥ ५० ॥

---

१ ' हस्तिना सह युद्धं हि ' इ. पा.

किं च।

कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥ ५१ ॥

औरभी-नीतिमान्‌को चाहिये कि कछुवेके समान संकोचमें स्थित हो प्रहारको सहे और समय प्राप्त होनेपर क्रूरसर्पके समान उठे॥ ५१ ॥

महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः ॥ ५२ ॥

उपायका जानना बडे और छोटेपरभी बराबर समर्थ होगा, नदीका वेग तृणके समान वृक्षोंके उखाड देनेको समर्थ है ॥ ५२ ॥

अतस्तद्दूतोऽप्याश्वास्य तावद्ध्रियतां यावद्दुर्गः सज्जीक्रियते । यतः-

सो जबतक किला तैयार हो तबतक उसके दूतकोभी आश्वासन करके रखना चाहिये. क्योंकि-

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विशिष्यते ॥ ५३ ॥

किलेमें स्थित एकही धनुषधारी सौसे और सौ मनुष्य लाखोंसे युद्ध कर सकते हैं, इसमें दुर्गकी विशेषता कही है ॥ ५३ ॥

किंच ।

अदुर्गो विषयः कस्य नारेः परिभवास्पदम् ।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत् ॥ ५४ ॥

औरभी-किलेरहित राजाका कौन शत्रु तिरस्कार नहीं कर सकता ? किलेरहित और आश्रयरहित राजा नांवसे गिरे मनुष्यके तुल्य है ॥ ५४ ॥

दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम्।
सयन्त्रं सजलं शैलसरिन्मरुवनाश्रयम्॥ ५५॥

बडी खाईवाला, ऊंची दीवारोंवाला, यंत्र और जलसहित पहाड, नदी, निर्जलदेश, वन जिसके समीप हो किला बनावे॥ ५५॥

विस्तीर्णतातिवैषम्यं रसधान्येध्मसंग्रहः।
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसंपदः॥ ५६॥'

फैलाव, अति विषमता (स्थानोंका ऊंचा नीचा होना), रस, अन्न, ईंधनके संग्रहके स्थान, जाने आनेके द्वार किलेकी य सात संपत्ति हैं॥ ५६॥

राजाह–'दुर्गानुसंधाने को नियुज्यताम्।' चक्रो ब्रूते–

राजा बोला–किलेके बनानेमें किसको नियुक्त किया जाय? चकवा बोला–

'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत्।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति॥ ५७॥

जो जिस काममें चतुर है, उसे उसमें लगावे. जिसने कर्म न किया हो न देखा हो, यदि वह शास्त्र जाननेवालाभी हो तोभी गड-बडा जाता है॥ ५७॥

तदाहूयतां सारसः।' तथानुष्ठिते सत्यागतं सारस-मालोक्य राजोवाच–'भोः सारस, त्वं सत्वरं दुर्गमनुसं-धेहि।' सारसः प्रणम्योवाच–'देव, दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते महत्सरः। किंत्वत्र मध्यवर्ति-द्वीपे द्रव्यसंग्रहः क्रियताम्। यतः–

इसलिये सारसको बुलाया जावे, ऐसा करनेसे आये हुए सार-सको देखकर राजा बोला–हे सारस! तू शीघ्र किला बना, सारस प्रणाम कर बोला–देव! किला तो यह बडा सरोवरही बहुत कालसे

बना हुआ है. किन्तु इसके बीचके द्वीपमें द्रव्यका संग्रह कीजिये. क्योंकि-

धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात्।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ५८ ॥

हे राजन्! अन्नोंका संग्रह सब संग्रहोंसे उत्तम है, क्योंकि मुँहमें रक्खा हुआ रत्न प्राणोंको नहीं बचा सकता ॥ ५८ ॥

किं च।

ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते ॥ ५९ ॥ '

किन्तु-सब रसोंमें लवण रस उत्तम कहा गया है, क्योंकि उसके बिना भोजन गोबरकी समान स्वाद देता है ॥ ५९ ॥

राजाह-'सत्वरं गत्वा सर्वमनुतिष्ठ।' पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते-'देव, सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि तिष्ठति। देवपादं द्रष्टुमिच्छति।' राजाह-'काकाः पुनः सर्वज्ञा बहुद्रष्टारश्च। तद्भवति संग्राह्य इत्यनुवर्तते।' चक्रो ब्रूते-'देव, अस्त्येवम्। किंतु काकः स्थलचरः। तेनास्मद्विपक्षे नियुक्तः कथं संग्राह्यः। तथा चोक्तम्-

राजा बोला-शीघ्र जाकर सब तैयार करो. फिर द्वारपाल आयके बोला-देव! सिंहलद्वीपसे आया हुआ मेघवर्ण नाम कौवा परिवारसहित बाहर खडा है. आपके चरणोंको देखा चाहता है. राजा बोला-निश्चयही कौवे सबके जाननेवाले और बडे देखनेवाले होते हैं, सो उसको रखना चाहिये, यही संमति होती है. चकवा बोला-देव! यह ठीक है, परंतु कौवा पृथ्वीपर चलनेवाला होता है. सो हमारे शत्रुसे मिला हुआ कैसे रखने योग्य है. कहा है-

आत्मपक्षं परित्यज्य परपक्षेषु यो रतः ।
स परैर्हन्यते मूढो नीलवर्णशृगालवत् ॥ ६० ॥'

अपने पक्षको छोडकर जो परपक्षमें प्रीति करता है सो मूढ नील रंगके गीदडकी समान दूसरोंसे मारा जाता है ॥ ६० ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ।' मन्त्री कथयति—

राजा बोला यह कैसे ? मंत्री बोला—

कथा ॥ ७ ॥

अस्त्यरण्ये कश्चिच्छृगालः स च स्वेच्छया नगरोपान्ते भ्राम्यन्नीलीभाण्डे पतितः । पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः प्रातरात्मानं मृतवत्संदर्श्य स्थितः । अथ नीलीभाण्डस्वामिना मृत इति ज्ञात्वा तस्मात्समुत्थाप्य दूरे नीत्वापसारितस्तस्मात्पलायितः । ततोऽसौ वनं गत्वा स्वकीयमात्मानं नीलवर्णमवलोक्याचिन्तयत्—'अहमिदानीमुत्तमवर्णः । तदाहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि ।' इत्यालोच्य शृगालानाहूय तेनोक्तम्—'अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनारण्यराज्ये सर्वौषधिरसेनाभिषिक्तः । पश्यतु मम वर्णम् । तदद्यारभ्यारण्येऽस्मदाज्ञया व्यवहारः कार्यः ।' शृगालाश्च तं विशिष्टवर्णमवलोक्य साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः—'यथाज्ञापयति देवः ।' इत्यनेनैव क्रमेण सर्वेष्वरण्यवासिष्वाधिपत्यं तस्य बभूव । ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाधिक्यं साधितम् । ततस्तेन व्याघ्र-

सिंहादीनुत्तमपरिजनान्प्राप्य सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमानेनावज्ञया स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः । ततो विषण्णान् शृगालानवलोक्य केनचिद्वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिज्ञातम्–' मा विषीदत । यदनेनानभिज्ञेन नीतिविदो मर्मज्ञा वयं स्वसमीपात्परिभूतास्तद्यथायं नश्यति तथा विधेयम् । यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते । तद्यथायं परिचितो भवति तथा कुरुत । तत्र चैवमनुष्ठेयम् । यतः सर्वे संध्यासमये संनिधाने महारावमेकदैव करिष्यथ । ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्त्तव्यः । यतः–

एक वनमें कोई गीदड था, वह अपनी इच्छांसे नगरके पास घूमता फिरता नीलके वर्तनमें गिर पडा. फिर उसमेंसे न उठ सका तो प्रातःकाल होनेपर अपने आपको मरेके समान दिखाकर पड रहा तो नीलके वर्तनके स्वामीने यह मर गया ऐसा जान उसमेंसे उठा दूर ले जा डाल दिया तो वह वहांसे भाग गया, फिर उसने वनमें जा अपनेको नीला देख सोचा कि–मैं अब उत्तम रंगवाला हूं. सो मैं अपनी बढाई क्यों न सिद्ध करूं ? यह सोच उसने गीदडोंको बुलाकर कहा कि–मुझे भगवती वनदेवीने अपने हाथसे वनके राज्यके लिये सब औषधियोंके रससे स्नान कराया है. मेरे रंगको देखो. सो आजसे वनमें मेरी आज्ञासे काम करो. गीदड उस श्रेष्ठ रंगवालेको देख साष्टांग दंडवत् प्रणाम कर बोले–कि जो जैसे आप आज्ञा करें. इस क्रमसे सब वनवासियोंमें उसका स्वामित्व हुआ. तो उस अपनी जातिसे घिरे हुएने अपनी बडाईको साधन किया. इसके उपरान्त उसने व्याघ्र सिंहादि उत्तम जनोंको पाय सभामें

शृगालोंको देखकर लज्जासे दुःखी हो अपनी सब जातिको अपमान कर निकाल दिया. तो गीदडोंको दुःखी देख किसी बूढे गीदडने यह प्रतिज्ञा कि विषाद मत करो. जो इस अज्ञानीने नीति और मर्मके जाननेवाले हमको अपने पाससे निकाल दिया है. सो जैसे यह नष्ट हो, वैसा करना योग्य है. जिससे कि यह व्याघ्रादिक इसके रंगसे वंचित हुए इसको गीदड न जानकर राजा करके मानते हैं. सो जैसे यह पहचाना जाय वैसा करो और इसमें ऐसा करना चाहिये कि तुम सायंकालको समीपमें एकही समय बडा शब्द करो तो उस शब्दको सुनकर जातिके स्वभावसे वहभी शब्द करेगा. कारण कि–

यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः।
श्वा यदि क्रियते राजा तत्किं नाश्नात्युपानहम् ६१

जो जिसका स्वभाव है, वह नित्य रहताहै, कठिनतासे बदलता है, जो कुत्ता राजा कियाजाय तो क्या वह जूतिको न चचोरेगा? ६१

ततः शब्दादभिज्ञाय व्याघ्रेण हन्तव्यः।' तथानुष्ठिते सति तद्वृत्तम्। तथा चोक्तम्–

फिर शब्दसे पहचान उसे व्याघ्र मार डालेगा तदनन्तर वैसाही आचरण करनेपर उसी प्रकार हुआ. ऐसा कहा है कि–

छिद्रं मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवानलः॥ ६२॥

शत्रु अपना छिद्र मर्म पराक्रम सब जानता है और भीतर प्रवेश कर सूखे वृक्षको अग्निकी समान जला देता है॥ ६२॥

अतोऽहं ब्रवीमि–' आत्मपक्षं परित्यज्य ' इत्यादि॥

इसलिये मैं कहता हूं–अपने पक्षको छोड परपक्षमें रत न हो इत्यादि॥

राजाह–' यद्येवं तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः । तत्संग्रहे विचारः कार्यः ।' चक्रो ब्रूते–' देव, प्रणिधिः प्रहितो दुर्गश्च सज्जीकृतः । अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम् । किन्तु–योधबलैः सह दूरादेव तमवलोकय । यतः–

राजा बोला–कि यद्यपि ऐसा है तोभी उसे देखना चाहिये. क्योंकि यह दूरसे आया है. उसके रखनेके लिये फिर विचार किया जायगा. चकवा बोला–देव ! दूत भेजा गया और किला तैयार हो गया हैं अब तोतेकोभी बुला भेजिये. परन्तु योधाओंके साथ उसे दूरहीसे देखना चाहिये । कारण कि–

नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः ।
तद्दूरान्तरितं दूतं पश्येद्वीरसमन्वितः ॥ ६३ ॥'

चाणक्यने नंदको तीक्ष्ण दूतके प्रयोगसे मार डाला था इस कारण वीरोंसे युक्त होकर राजाको बहुत दूरहीसे दूतसे भेंट करनी चाहिये ॥ ६३ ॥

ततः सभां कृत्वाहूतः शुकः काकश्च । शुकः किंचिदुन्नतशिरा दत्तासन उपविश्य ब्रूते–' भो हिरण्यगर्भ, महाराजाधिराजः श्रीमच्चित्रवर्णस्त्वां समाज्ञापयति । यदि जीवितेन श्रिया वा प्रयोजनमस्ति तदा सत्वरमा-

---

१ ' नन्दवंशके अन्त्यम राजाका नामभी " नन्द " ही था' एक समय इस राजाके द्वारा चाणक्यका अनादर हो गया, अत एव चाणक्यने इसके विनाश करनेकी प्रतिज्ञा कर उसके निकट कपटदूतको भेजा, इस दूतने एकान्तमें उक्त राजाको मारडाला । तदनन्तर चाणक्यने विविध भांतिकी चातुरीसे इसके वंशका मूलोच्छेदन कर ईस्वी सनसे ३२९ वर्ष प्रथम पटनेके सिंहासनपर मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्तकी स्थापना करी और स्वयम् उसका मन्त्री बना ।

गत्वास्मच्चरणौ प्रणम । चेदवस्थातुं स्थानान्तरं चिंतय ।' राजा सकोपमाह–' आः, कोऽप्यस्माकं पुरतो नास्ति य एनं गलहस्तयति ।' उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते–' देव, आज्ञापय । हन्मि दुष्टं शुकम् ।' सर्वज्ञो राजानं काकं च सान्त्वयन्ब्रूते–' भद्र मैवं शृणु तावत् ।

तदनंतर सभा करके कौवा और तोता बुलाया गया. तोता आकर दिये हुए आसनपै बैठ ऊंचा शिर कर बोला–हे हिरण्यगर्भ ! महाराजाधिराज श्रीमान् चित्रवर्ण तुम्हें आज्ञा देते हैं कि जो जीनेसे वा लक्ष्मीसे प्रयोजन है, तो शीघ्र आकर हमारे चरणोंको नमस्कार करो. नहीं तो रहनेके लिये दूसरा स्थान ढूंढो. राजा क्रोध कर बोला–अरे कोई हमारे सामने नहीं, जो इसके गलेमें हाथ डाल निकाल दे. मेघवर्ण उठकर बोला–देव ! आज्ञा दो तो मैं दुष्ट तोतेको मार डालूं. सर्वज्ञ मन्त्री राजा और कौवेको शांत करता बोला–महाशय ! ऐसा न चाहिये सुनो–

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति ॥ ६४ ॥

वह सभा नहीं है कि, जहां वृद्ध नहीं, वह वृद्ध नहीं है, जो धर्म न बतावे, वह धर्म नहीं, कि जिसमें सत्य न हो, वह सत्य नहीं, जो छलसे मिला हुआ है ॥ ६४ ॥

यतो राजधर्मश्चैषः ।

और राजधर्म तौ यह है कि–

दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥ ६५ ॥

म्लेच्छभी दूत अवध्य है. क्योंकि राजाका मुख दूत होता है. शस्त्र उठानेपरभी दूत झूंठ नहीं बोलता ॥ ६५ ॥

किं च ।

स्वापकर्षं परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ।
सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति ॥ ६६ ॥

औरभी—ऐसा कौन है जो दूतके कहनेसे अपनी नीचता और दूसरेकी उत्कृष्टता मान ले, क्योंकि सदा अवध्य होनेसे दूत सब कुछही कहता है ॥ ६६ ॥

ततो राजा काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽप्युत्थाय चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणानीय प्रबोध्य कनकालंकारादिकं दत्त्वा संप्रेषितः स्वदेशं ययौ । शुकोऽपि विन्ध्याचलं गत्वा चित्रवर्णं राजानं प्रणतवान् । राजोवाच—'शुक, का वार्ता । कीदृशोऽसौ देशः ।' शुको ब्रूते—'देव, संक्षेपादियं वार्ता । संप्रति युद्धोद्योगः क्रियताम् । देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः । कथं वर्णयितुं शक्यते ।' ततः सर्वाञ्शिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः । आह च—'संप्रति कर्तव्यविग्रहे यथाकर्तव्यमुपदेशं ब्रूत । विग्रहः पुनरवश्यं कर्तव्यः । तथा चोक्तम्—

तौ राजा और कौवा दोनों अपने शान्त स्वभावको प्राप्त हुए. तोताभी उठकर चला. फिर चकवेने उसे बुलाय समझा बुझाके सोनेके भूषण दे (तोतेको) भेज दिया और वह गया, तोतेने विन्ध्याचलमें जाय चित्रवर्ण राजाको प्रणाम किया. राजा बोला—तोते ! क्या बात है, वह देश कैसा है ? तोता बोला—देव ! संक्षेपसे

यह बात है कि अब युद्धका उद्योग कीजिये. वह देश कर्पूरद्वीप स्वर्गका एक देश है ? और राजा दूसरा स्वर्गका स्वामी है कैसे वर्णन किया जा सक्ता है तब तो सब श्रेष्ठोंको बुलाकर राजा परामर्श (सलाह) करने बैठा. और बोला—अब करने योग्य युद्धमें जैसा करना चाहिये, वैसा उपदेश कहो और युद्ध तो अवश्यही करना चाहिये, जैसा कहा है—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलस्त्रियः॥६७॥'

असंतुष्ट ब्राह्मण और संतुष्ट राजा लज्जावाली वेश्या और निर्लज्ज कुलकी स्त्रियां नष्ट होती हैं ॥ ६७ ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो ब्रूते—'देव, व्यसनितया विग्रहो न विधिः। यतः—

दूरदर्शी नाम गृध्र बोला—देव ! व्यसन (शौक) से युद्ध करना नहीं कहा है. क्योंकि—

मित्रामात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः।
शत्रूणां विपरीताश्च कर्तव्यो विग्रहस्तदा॥ ६८॥

मित्र, मंत्री, सुहृद्‌जन जब दृढभक्त और शत्रुओंके विपरीत हों तो युद्ध करना चाहिये ॥ ६८ ॥

अन्यच्च।

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलं त्रयम्।
यदैतन्निश्चितं भावी कर्तव्यो विग्रहस्तदा॥ ६९॥ '

औरभी। पृथ्वी, मित्र, सुवर्ण, ये तीन युद्धके फल हैं, जब यह निश्चय हो तो युद्ध करना चाहिये ॥ ६९ ॥

राजाह—' मद्बलं तावदवलोकयतु मन्त्री। तदैतेषामुपयोगो ज्ञायताम्। एवमाहूयतां मौहूर्तिकः। नि-

णीय शुभलग्नं ददातु ।' मन्त्री ब्रूते- 'तथापि सहसा यात्राकरणमनुचितम् । यतः-

राजा बोला-पहले मंत्री मेरी सेनाको देखे तो इनका उपयोग जानना चाहिये, ऐसा मुहूर्त विचारनेवाला ज्योतिषी बुलाया जावे, जो निर्णय करके श्रेष्ठ लग्न बतावे । मंत्री बोला-तौभी शीघ्र यात्रा करनी अयोग्य है. कारण कि-

विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम् ।
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम् ॥ ७० ॥

जो मूढ लोग शत्रुका बल विना विचारे शीघ्र (युद्ध करनेको) जातेहैं, वेही निश्चयकरके तलवारकी धारका स्पर्श प्राप्त करतेहैं ॥७०॥

राजाह-' मन्त्रिन्, ममोत्साहभङ्गः सर्वथा मा कृथाः । विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति तथा कथय ।' गृध्रो ब्रूते-' तत्कथयामि । किंतु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम् । तथा चोक्तम्-

राजा बोला-हे मंत्री । सब प्रकारसे मेरे उत्साहको भंग न कर, जैसे जीतनेकी इच्छा करनेवाला पराई भूमिको दबाता है वैसा कह. गृध्र बोला-कहता हूं, परंतु वह करनेहीसे फल देगा जैसा कहा है-

किं मन्त्रेणाननुष्ठानाच्छास्त्रवित्पृथिवीपतेः ।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत् ७१ ॥

राजा यदि शास्त्रका जाननेवालाभी हो और वह मंत्र अनुष्ठान न करे, तो क्या होता है. केवल औषधीके जाननेहीसे दुःखकी शांति कहीं नहीं होती ॥ ७१ ॥

राजा देशश्चानतिक्रमणीयः । यथाश्रुतं तन्निवेदयामि । शृणु ।

और राजाकी आज्ञाभी उल्लंघन न करनी चाहिये. इस कारण शास्त्रानुसार कहता हूं, उसे सुनिये.

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ ७२ ॥

हे राजा ! जहां जहां नदी, पर्वत, वन, किलेमें भय है. वहां वहां सेनापतिको, सैनका व्यूह बांधकर जाना चाहिये ॥ ७२ ॥

बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोशः फल्गु च यद्बलम् ७३

सेनापति आगे चले और वह शूर वीरोंसे युक्त हो और बीचमें स्त्री, स्वामी, खजाना तथा निर्बल सेना चले ॥ ७३ ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां च पदातयः ॥ ७४ ॥

दोनों पार्श्वोंमें घोडे और घोडोंके पार्श्वोंमें रथ, रथोंके पार्श्वोंमें हाथी और हाथियोंके पार्श्वों (दोनों ओर) में पदचर चलें ॥ ७४ ॥

पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटयुक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः ॥ ७५ ॥

फिर सेनापति शूर वीर मंत्रियोंसहित दुःखियोंका आश्वासन करता हुआ सेना लेकर चले और राजा योधा और मंत्रियोंसे युक्त सेना लेकर जाय ॥ ७५ ॥

समेयाद्विषमं नागैर्जलाढ्यं समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७६ ॥

ऊंचे नीचे जलसे युक्त पर्वतवाले देशमें हाथियोंसे, समान स्थानको घोडोंसे, पानीको नांवसे और सबही जगह पदचरोंसे यात्रा करनी चाहिये ॥ ७६ ॥

हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे ।
तदन्यत्र तुरंगाणां पत्तीनां सर्वदैव हि ॥ ७७ ॥

बादलोंके आनेके समय हाथियोंका गमन अच्छा कहा है, और जगह घोडोंका और पैदलोंका गमन सदाही अच्छा कहा है ॥७७॥

शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्यापि शयनं योगिनिद्रया ॥ ७८ ॥

पर्वतों और कठिन मार्गोंमें राजाकी रक्षा करनी चाहिये, अपने योधाओंसे रक्षित होकरभी राजाको तपस्वियोंकी (क्षणभंगुर) निद्रासे सोना चाहिये ॥ ७८ ॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून्दुर्गकण्टकमर्दनैः ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७९ ॥

कठिन सेनाको मर्दन करके शत्रुओंका नाश और उच्छेद करना चाहिये और शत्रुओंके देशमें प्रवेश करनेपर पहले मार्गशोधन करनेवालोंको आगे करे ॥ ७९ ॥

यत्र राजा तत्र कोशो विना कोशान्न राजता ।
स्वभृत्येभ्यस्ततो दद्यात्को हि दातुर्न युध्यते ८०॥

जहां राजा है, वहां खजाना रहना चाहिये, खजाने विना राजा नहीं, इस कारण अपने सेवकोंको धन दे. क्योंकि–देनेवालेके निमित्त युद्ध कौन नहीं करता ॥ ८० ॥

न नरस्य नरो दासो दासस्त्वर्थस्य भूपते ।
गौरवं लाघवं वापि धनाधननिबन्धनम् ॥ ८१ ॥

हे राजा ! मनुष्य मनुष्यका दास नहीं है, धनका दास है. बडाई और छुटाईभी धन और निर्धनताके संबंधसे है ॥ ८१ ॥

अभेदेन च युध्येत रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किंचिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत् ८२

सब सेना परस्पर भेद छोड (एकचित्त हो) युद्ध करे, एवम् एक दूसरेकी परस्पर रक्षा करे और जो निर्बल सेना हो उसे व्यूहके बीचमें रक्खे ॥ ८२ ॥

पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत्।
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ॥ ८३ ॥

राजा पदचारीकी सेनाको आगे करे. शत्रुको रोककर खडा हो और उसके राज्यको पीडा दे ॥ ८३ ॥

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ ८४ ॥

रथ और घोडोंसे सम देशमें, नांव और हाथियोंसे जलयुक्त देशमें युद्ध करे, वृक्ष, गुल्मसे आच्छादित स्थानमें धनुषोंसे और स्थलपर तलवार और चमडेके शस्त्रों (ढाल) से युद्ध करे ॥ ८४ ॥

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्।
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारान्परिखास्तथा॥८५॥

और इसके पास अन्न, जल, ईंधनको एकसाथ नष्ट करना उचित है और सरोवर किलेकी दीवारोंको तथा परिखाओंको तोड डाले ॥ ८५ ॥

बलेषु प्रमुखो हस्ती न तथान्यो महीपतेः।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः ॥ ८६ ॥

राजाकी सेनामें हाथी मुख्य है. ऐसा और कोई दूसरा नहीं है. कारण कि–अपनेही अवयवोंसे हाथी आंठ शस्त्रवाला कहा गया है८६

बलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे ॥ ८७ ॥

---

१ एक सूंड, दो दांत, चार चरण और एक मस्तक हाथीके ये आठ अंग उसके आयुध हैं।

और घोडा राजाओंका बल है. क्योंकि वह एक चलनेवाला प्राकार अर्थात् घेरा है, इसलिये बहुत घोडेवाला राजा स्थलके युद्धमें विजय पाता है ॥ ८७ ॥

तथा चोक्तम्–

युध्यमाना हयारूढा देवानामपि दुर्जयाः ।
अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्तिनः ॥८८॥

जैसा कि कहाभी है–घोडेपर चढे हुए युद्ध करनेवालोंको देवताभी दुःखसे जीतते हैं और दूर खडे हुए शत्रुभी उसके हाथमें हैं ॥ ८८ ॥

प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥८९॥

सब सेनाकी रक्षा करनाही युद्धका पहला कार्य है और दिशाओंके मार्गोंको शुद्ध करना पदचरोंका काम है ॥ ८९ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ९० ॥

स्वभावसे शूर, अस्त्रविद्याके जाननेवाले, अनुरागी, श्रमके जीतनेवाले ऐसे प्रसिद्ध क्षत्रियोंकी सेना बहुत श्रेष्ठ कही गई है ॥९० ॥

यथा प्रभुकृतान्मानाद्युद्ध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते ॥ ९१ ॥

जैसा स्वामीके आदर करनेसे जगत्में मनुष्य युद्ध करते हैं. वैसा राजा ! बहुत द्रव्य देनेसे नहीं करते ॥ ९१ ॥

वरमल्पबलं सारं न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम् ॥ ९२ ॥

बलवान् उत्तम अल्प सेनाभी श्रेष्ठ है. बहुतसारी मुण्डमण्डली

(डरपोकोंकी भरती) न करे. क्योंकि अयोग्यके नाश होनेपरभी नाश होता है ॥ ९२ ॥

अप्रसादोऽनधिष्ठानं देयांशहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९३ ॥

प्रसन्न न होना, पुरस्कार न देना, दी हुई वस्तुका ले लेना, समय बिताना, उपाय न करना यह वैराग्यका कारण है ॥ ९३ ॥

आपीडयन्बलं शत्रोर्जिगीषुरतिशोषयेत् ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम् ॥ ९४ ॥

शत्रुओंके जीतनेकी इच्छा करनेवाला, अपनी सेनाको पीडा न देता हुआ प्रस्थान करे. बडे मार्ग चलकर आई हुई सेना शत्रुओंको सुखसाध्य होती है अर्थात् थकी सेनाको शत्रु मार लेते हैं ॥ ९४ ॥

दायादादपरो मन्त्रो नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः ॥ ९५ ॥

शत्रुओंसे भेद करनेवाला हिस्सेदारोंके अतिरिक्त दूसरा मंत्र नहीं है. इसलिये यत्नसे उस शत्रुके बांधवोंको भडकावे ॥ ९५ ॥

संधाय युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपनं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥९६॥

युवराज वा मुख्य मंत्रीसे मेल करके धैर्यचित्तवाले वैरीका भीतरी क्रोध उभाडना उचित है ॥ ९६ ॥

क्रूरं मित्रं रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत् ।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या तल्लक्ष्याश्रितबन्धनात् ॥९७॥

और रणसे भागते हुए (तिरस्कार करके) क्रूर मित्रोंकोभी

---

१ ' युवराजेन संधाय प्रधानपुरुषेण वा । ततः प्रकोपं जनयेत् ' २ मृगयासंप्रयुक्तं वा हन्याच्छक्रं व्यपाश्रयः । ' ३ ' तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात् ' इ. पा. का. नी.

मरवा डाले. अथवा जैसे गऊको खैंचकर बांधते हैं, ऐसे उसके मुख्य बांधवोंको बंधनमें करके मारे ॥ ९७ ॥

स्वराज्यं वासयेद्राजा परदेशावगाहनात्।
अथवा दानमानाभ्यां वासितं धनदं हि तत्॥९८॥'

शत्रुओंके देशसे मनुष्यादिकोंको लाकर राजा अपने राज्यमें वसावें. अथवा दान और सन्मानसे बसाया हुआ (देश) निश्चय करके धनका देनेवाला होता है ॥ ९८ ॥

राजाह-'आः, किं बहुनोदितेन।

राजा बोला-आः ! बहुत कहनेसे क्या है.

आत्मोदयः परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतीयते ॥ ९९ ॥'

अपना उदय, शत्रुका दुःख, येही दोनों नीति हैं, इन्हें स्वीकार कर पंडितजन अपनी वात प्रकट करते हैं ॥ ९९ ॥

मन्त्रिणा विहस्योच्यते-'सर्वमेतद्विशेषतश्चोच्यते। किंतु।

मंत्री हँसकर बोला-यह सब सत्य है. परन्तु-

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम्।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः १००॥'

एक प्राणी तो स्वतंत्र है और दूसरा शास्त्रसे युक्त है. तो शास्त्रोक्त बल और है, तेज और अंधकारसे कैसे समानता हो सकती है, अर्थात् स्वतंत्र परतंत्रका मेल नहीं हो सकता ॥ १०० ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकावेदितलग्ने प्रस्थितः।

फिर उठकर राजाने मुहूर्त कहनेवाले ज्योतिषके बतलाये हुए समयमें प्रस्थान किया.

अथ प्रहितप्रणिधिर्हिरण्यगर्भमागत्योवाच-'देव,

समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । संप्रति मलयपर्वताधित्यकायां समावासितकटकोऽनुवर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसंधातव्यं यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किंच केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैव तदिङ्गितमवगतं मया यदनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।' चक्रो ब्रूते–'देव, काक एवासौ संभवति ।' राजाह–'न कदाचिदेतत् । यद्येवं तथा कथं तेन शुकस्याभिभवोद्योगः कृतः । अपरं च शुकस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स चिरादत्रास्ते ।' मन्त्री ब्रूते–'तथाप्यागन्तुः शङ्कनीयः ।' राजाह–'आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते । शृणु–

इसके पीछे भेजा हुआ दूत आकर हिरण्यगर्भसे बोला–कि देव ! राजा चित्रवर्ण आ पहुँचा है इस समय मलयागिरिकी ऊंची भूमिमें कटक (सेना) सहित ठहर रहा है. सो निरंतर किलेकी देखभाल करनी चाहिये, क्योंकि गृध्र उसका वडा मंत्री है. और किसीके साथ उसके विश्वासकी कथाके प्रसंगसे यहभी संकेतसे जाना गया, कि उसने पहलेहीसे कोई हमारे किलेमें नियुक्त किया है. चकवा बोला–कि देव ! कौवाही होगा. राजा बोला–यह कभी नहीं हो सकता. यदि ऐसा होता तो वह तोतेकी पराजयका उद्योग क्यों करता और तोतेके आनेसे कैसे उसे युद्धका उत्साह है. वह बहुत कालसे यहां ठहरा हुआ है. मंत्री बोला–तोभी आनेवालेहीपर सन्देह होता है. राजा बोला कभी २ आनेवालेभी उपकारी होते देखे गये हैं ! सुनो–

परोऽपि हितवान्बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१०१॥

परायाभी हित करनेवाला बंधु है और अहित करनेवाला बंधुभी दूसरा है. देहसे उत्पन्न व्याधि अहित है और वनकी औषधी हितकारिणी है ॥ १०१ ॥

अपरं च।

आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः।
सेवकः स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः १०२॥'

औरभी–शूद्रकराजाका वीरवर नाम सेवक था, उसने थोडेही समयमें अपने पुत्रको (बलिके लिये) दे दिया॥ १०२ ॥

चक्रः पृच्छति–'कथमेतत्।' राजा कथयति–
चक्वेने पूछा कि–यह कैसे ! राजा बोला–

कथा ॥ ८ ॥

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहानुरागवानभवम्। तत्र वीरवरो नाम महाराजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य राजद्वारमुपगम्य प्रतीहारमुवाच–'अहं तावद्वेतनार्थी राजपुत्रः। मां राजदर्शनं कारय।' ततस्तेनासौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते–'देव, यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति तदास्मद्वर्तनं क्रियताम्।' शूद्रक उवाच–'किं ते वर्तनम्।' वीरवरो ब्रूते–'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि।' राजाह–'का ते सामग्री!' वीरवरो ब्रूते–'द्वौ बाहू तृतीयश्च खड्गः।' राजाह–'नैतच्छक्यम्।' तच्छ्रुत्वा वीरवरश्चलितः। अथ मन्त्रिभिरुक्तम्–'देव, दिनचतुष्टयस्य वर्तनं

दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपः किमुपयुक्तोऽयमेतावद्वर्तनं गृह्णात्यनुपयुक्तो वेति।' ततो मन्त्रिवचनादाहूय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि। तद्विनियोगश्च राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः। तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। स्थितस्यार्धं दुःखितेभ्यः। तदवशिष्टं भोज्यव्ययविलासव्ययेन। एतत्सर्वं नित्यकृतं कृत्वा राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते। यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि याति।

मैं पहले शूद्रक राजाके क्रीडासरोवरमें कर्पूरकेलि नाम राजहंसकी पुत्री कर्पूरमंजरीके साथ अनुरागी हुआ, वहां वीरवर नाम कोई एक राजपुत्र किसी देशसे आकर राजद्वारपर जा द्वारपालसे बोला—मैं जीविकाकी इच्छा करनेवाला राजपु त्र, मुझे राजाका दर्शन कराओ. निदान जब उसने उसे राजाका दर्शन कराया, तो वह बोला—कि देव! जो मुझ सेवकसे काम हो तो मुझे नौकरी दीजिये. शूद्रक बोला—क्या नौकरी लोगे. वीरवर बोला—प्रतिदिन पांच सौ अशर्फियां दीजिये. राजा बोला—तेरी क्या सामग्री है. वीरवर बोला—दो भुजा और तीसरी तलवार. राजा बोला—इतना नहीं हो सकता. यह सुनकर वीरवर चला तो मंत्रियोंने कहा—हे देव! चार दिन नौकरी देकर इसका स्वरूप जानना चाहिये कि, यह इतनी नौकरी लेता है, सो योग्य है या नहीं? तो मंत्रीके कहनेसे बुलाकर वीरवरको पान दे पांच सौ अशर्फियां दीं और उसका खर्च छिपकर राजाने देखा. उसका आधा तो वीरवरने देवताओं और ब्राह्मणोंको तथा बचे हुएका आधा दुःखियोंको दिया. शेष भोजन और विलासमें खर्च किया, यह सब नित्यका

कृत्य कर रात दिन हाथमें खड्ग लिये राजद्वारका सेवन करता, जब राजा आप आज्ञा देता तो घरको जाता था।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ राजा सकरुणं क्रन्दनध्वनिं शुश्राव। शूद्रक उवाच—'कः कोऽत्र द्वारि।' तेनोक्तम्—'देव, अहं वीरवरः।' राजोवाच—'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम्।' वीरवरः—'यथाज्ञापयति देवः।' इत्युक्त्वा चलितः राज्ञा च चिन्तितम्—'नैतदुचितम्। अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचिभेद्ये तमसि प्रेरितः। तदनु गत्वा किमेतदिति निरूपयामि।' ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। गत्वा च वीरवरेण सा रुदती रूपयौवनसंपन्ना सर्वालंकारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा। पृष्टा च—'का त्वम्। किमर्थं रोदिषि।' स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः। चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता। देव्या अपराधेन राजा तृतीये दिवसे पंचत्वं यास्यतीति रोदिमि इदानीमन्यत्र गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते—'यत्रापायः संभवति तत्रोपायोऽप्यस्ति। तत्कथं स्यात्पुनरिहावलम्बनं भवत्याः।' लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि तदाहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि राजा च शतायुर्भविष्यति।' इत्युक्त्वादृश्याभवत्।

एक समय कृष्णपक्षकी चौदशकी रातमें राजाने बडे रोदनका

शब्द सुना. शूद्रक बोला–द्वारपर कौन है ? वह बोला–देव ! वीरवर हूं. राजा बोला–रोनेके शब्दके पीछे जाओ. वीरवर–' जो आज्ञा महाराज ' यह कहकर चला. राजाने सोचा यह योग्य नहीं कि, इस अकेले राजपुत्रको मैंने सूचीभेद्य (महा) अंधेरेमें भेजा, सो पीछे जाकर देखूं कि यह क्या है, तो राजाभी खड्ग ले उसके पीछे २ नगरके बाहर निकला, वीरवरने जाकर रोती हुई, रूपयौवनसंपन्न, सारे भूषणोंसे शोभित कोई स्त्री देखी और पूछा तू कौन है, क्यों रोती है. स्त्री बोली–मैं इस शूद्रककी राजलक्ष्मी हूं, बहुत समयसे इसकी भुजाओंकी छायामें बडे सुखसे रही, अब देवीके अपराधसे तीसरे दिन राजाका मरण होगा इसीसे रोती और अन्यत्र जाती हूं। वीरवर बोला–कि, जहां अपाय (दुःख) होता है. वहां उपायभी रहता है. सो कैसे फिर तुम्हारा यहां रहना हो. लक्ष्मी बोली–जो तू बत्तीस लक्षणों (चिह्नों) से युक्त अपने पुत्र शक्तिधरको भगवती सर्वमंगलाकी भेंट करे तो मैं फिर यहां चिरकालतक रहूं और राजाभी शतायु हो जाय. यह कहकर अंतर्ध्यान हो गई.

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता पुत्रश्च। तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते–' धन्योऽहमेवंभूतः स्वामिराजरक्षार्थं

१ ' पंचसूक्ष्मः पंचदीर्घः सप्तदीर्घः षडुन्नतः। त्रिह्रस्वः पृथुगंभीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान् ॥ १ ॥ ' त्वचा, केश, रोम, दांत और पोरुए ये पांच सूक्ष्म होते हैं; नासिका, भुजा, नेत्र, ठोडी, जानु, ये पांच दीर्घ होते हैं. कोये, चरण, हथेली, तलुआ, अधरोष्ठ, जिह्वा और नख ये सात रक्त होते हैं; छाती, कन्धे, नख, नाक, कमर और मुख ये छः अंग ऊंचे होते हैं, मस्तक, छाती और कमर ये तीन अंग चौडे होते हैं; गर्दन, लिंग, जंघा, ये तीन खर्व होते हैं; नाभि, कंठ, स्वर और स्वभाव ये तीन गंभीर होते हैं। ये बत्तीस शुभ लक्षण हैं।

यन्ममोपयोगः श्लाघ्यः। तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः ॥ एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः। यतः–

फिर वीरवरने अपने घर जाकर सोती हुई अपनी स्त्री और पुत्रको जगाया, वे दोनों नींद छोड उठ बैठे. वीरवरने उन सब लक्ष्मीके वचनोंको कहा. यह सुन शक्तिधर आनंद हो बोला–कि मुझे धन्य हैं. स्वामीके राज्यकी रक्षाक लिये मेरी मृत्यु श्लाघ्य है, सो अब देरका क्या कारण है. इस प्रकारके कार्यमें देहका देना बडाईके योग्य है. क्योंकि–

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
तन्निमित्तो वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥१०३॥

ज्ञानी पुरुषको उचित ह कि जब धन और जीवनका नाश होना निश्चय है, तो श्रेष्ठोंके निमित्त उसका त्यागही श्रेष्ठ है ॥ १०३ ॥

शक्तिधरमातोवाच–'यद्येतन्न कर्तव्यं तत्केनाप्यन्येन कर्मणा मुख्यस्य महावर्तनस्य निष्क्रयो भविष्यति।' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः स्थान गताः। तत्र सर्वमङ्गलां संपूज्य वीरवरो ब्रूते–'देवि, प्रसीद। विजयतां विजयतां शूद्रको महाराजः। गृह्यतामुपहारः।' इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद। ततो वीरवरश्चिन्तयामास–'गृहीतराजवर्तनस्य निस्तारः कृतः। अधुना निष्पुत्रस्य जीवनेनालम्।' इत्यालोच्यात्मनः शिरश्छेदः कृतः। ततः स्त्रियापि स्वामिपुत्रशोकार्तया तदनुष्ठितम। तत्सर्वं दृष्ट्वा राजा साश्चर्यं चिन्तयामास–

शक्तिधरकी माता बोली–जो यह न किया जावेगा, तो फिर कौनसे बडे कर्मसे इसके द्रव्य देनेका बदला होगा. यह विचार कर

सब सर्वमंगलाके स्थानपर गये. वहां सर्वमंगलाकी अच्छी प्रकार पूजा कर वीरवर बोला—देवि ! प्रसन्न हो, महाराजा शूद्रक विजय पावें, भेंट लो. यह कहकर पुत्रका शिर काट डाला. फिर वीरवरने सोचा कि, राजाकी नौकरीका जो धन लिया था. उसका बदला तो कर दिया. अब पुत्ररहित जीना व्यर्थ है. यह सोच अपनाभी शिर काट डाला, फिर स्वामी और पुत्रके शोकसे दुःखी स्त्रीनेभी वैसाही किया. यह सब देखकर राजा आश्चर्य करके चिंता करने लगा.

'जीवन्ति च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः ।
अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति॥ १०४ ॥

मेरी समान तुच्छ जीव तौ जीते और मरते हैं, पर इसके समान संसारमें न कोई हुआ और न होगा ॥ १०४ ॥

तदेतेन परित्यक्तेन मम राज्येनाप्यप्रयोजनम् ।' ततः शूद्रकेणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः । अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया राजा हस्ते धृत उक्तश्च— 'पुत्र, प्रसन्नास्मि ते । एतावता साहसेनालम् । जीवनान्तेऽपि तव राज्यभङ्गो नास्ति ।' राजा च साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—' देवि, किं मे राज्येन । जीवितेन वा किं प्रयोजनम् । यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममायुःशेषेणायं सदारपुत्रो वीरवरो जीवतु । अन्यथाहं यथाप्राप्तां गतिं गच्छामि ।' भगवत्युवाच—' पुत्र, अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण भृत्यवात्सल्येन च तव तुष्टास्मि । गच्छ । विजयी भव । अयमपि सपरिवारो राज-

१ 'जायन्ते' २ 'मादृशाः' ३ 'पराद्धबद्धकक्षाणां त्वादृशामुद्भवः कुतः । इ. पा. ना. नी.

पुत्रो जीवतु।' इत्युक्त्वा देव्यदृश्याभवत्। ततो वीरवरः सपुत्रदारो गृहं गतः। राजापि तैरलक्षितः सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः।

सो ऐसे राजभक्त सेवकरहित मेरे राज्यसेभी क्या प्रयोजन है, यह सोच शूद्रकनेभी अपना शिर काटनेको जभी खड्ग उठाया तो भगवती सर्वमंगलाने राजाका हाथ पकडकर कहा–पुत्र! मैं तुझसे प्रसन्न हूं. यह साहस मत कर, जीवनके अंतपरभी तेरा राज्यभंग न होगा. तव राजा साष्टांग प्रणाम कर वोला–हे देवि! मेरे राज्यसे क्या है और जीवनसे क्या प्रयोजन है, जो मुझपर कृपा है तो मेरी शेष आयुसे स्त्रीपुत्रसहित यह वीरवर जीवे, नहीं तो मैं यथेच्छ गतिको प्राप्त हूंगा, भगवती वोली–पुत्र! तेरे इस साहसक उत्कर्षसे और सेवकपर प्रीति होनेसे मैं तुझपर प्रसन्न हूं. जा विजयी हो, परिवारसहित यह राजपुत्रभी जीवे. यह कहकर देवी अदृश्य हुई. तो वीरवर पुत्रस्त्रीसहित घर गया, राजाभी उनसे छिप शीघ्र रनवासमें पहुँच गया।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन दृष्टः सन्नाह–'देव, सा रुदती मामवलोक्यादृश्याभवत्। न काप्यन्या वार्ता विद्यते।' तद्वचनमाकर्ण्य राजाचिन्तयत्–'कथमयं श्लाघ्यो महासत्त्वः। यतः–

फिर प्रातःसमय द्वारपर वैठे हुए वीरवरसे राजाने पूछा, तव उसने कहा देव! वह रोती हुई स्त्री मुझे देख छिप गई और कुछ वात नहीं है. यह वचन सुन राजाने सोचा, कैसा यह प्रशंसायोग्य महापुरुष है. क्यौंकि–

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः॥१०९॥

उदारको प्रिय बोलना उचित है, शूरको आत्मश्लाघी न होना चाहिये, दाताको अपात्रवर्षी और प्रगल्भको निष्ठुर होना न चाहिये ॥ १०५ ॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति ।' ततः स राजा प्रातः शिष्टसभां कृत्वा सर्ववृत्तान्तं प्रस्तुत्य प्रसादात्तस्मै कर्णाटकराज्यं ददौ । तत्किमागन्तुको जातिमात्राद्दुष्टः । तत्राप्युत्तमाधममध्यमाः सन्ति ।' चक्रवाको ब्रूते–

इसमें ये सब महापुरुषके लक्षण हैं, फिर उस राजाने प्रातःकाल शिष्टपुरुषोंकी सभा कर सब वृत्तांत कह प्रसन्नतासे उसे कर्णाटकका राज्य दे दिया, सो क्या आया हुआ जातिमात्रसे दुष्ट है. किन्तु उनमेंभी उत्तम मध्यम अधम हैं. चकवा बोला–

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया ।
वरं स्वामिमनोदुःखं तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥१०६॥

जो मंत्री राजाकी इच्छासे कार्यके समान अकार्यको बताता है, वह स्वामीके मनमें दुःख होना श्रेष्ठ है, परंतु अकार्यसे उसका नाश होना अच्छा नहीं ॥ १०६ ॥

वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियः सदा ।
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ १०७ ॥

वैद्य, गुरु, मंत्री जिस राजाके प्रिय हैं, वह शीघ्रही शरीर, धर्म और कोशसे हीन होता है अर्थात् सचिव, वैद्य, गुरु जो राजासे प्रिय कहते हैं, हित, पथ्य तथा धर्मकी बातसे रहित होनेसे राजाके शरीर, धर्म और कोशका नाश होता है ॥ १०७ ॥

---

१ सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं नृप पास । राज्य देह और धर्मकर, होय वेगही नाश ॥

शृणु देव ।

पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं महालोभान्निध्यर्थी नापितो हतः॥१०८॥'

सुनिये महाराज ! जैसे एकने पुण्यसे पाया वैसेही मुझे मिल जाय, वडे लोभसे निधिका चाहनेवाला नाई भिक्षुकको मारकर मारा गया ॥ १०८ ॥

राजा पृच्छति–' कथमेतत् ।' मन्त्री कथयति–

राजाने पूंछा–यह केस, मंत्री बोला–

कथा ॥ ९ ॥

अस्त्ययोध्यायां चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनार्थिना महता क्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिर-माराधितः । ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणादिष्टः–' यत्त्वमद्य प्रातः क्षौरं कृत्वा लगुडं हस्ते कृत्वा गृहे निभृतं स्थास्यसि । ततोऽस्मिन्नेवाङ्गणे समागतं यं भिक्षुं पश्यसि । तं नि-र्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततः सुवर्णकलशो भविष्यति । तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवित-व्यम् ।' ततस्तथानुष्ठिते तद्वृत्तम् । तत्र क्षौरकरणाया-नीतेन नापितेनालोक्य चिन्तितम्–' अये, निधि-प्राप्तेरयमुपायः । अहमप्येवं किं न करोमि । ' ततः-प्रभृति नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनि-भृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते । एकदा तेन प्राप्तो भिक्षु-

लगुडेन व्यापादितः । तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि-' पुण्याल्लब्धं यदेकेन ' इत्यादि । राजाह-

अयोध्यामें चूडामणि नाम एक क्षत्रिय है, उस धनकी इच्छा करनेवालेने बडे क्लेशसे चंद्रार्धचूडामणि शिवजी भगवान्का वहुत समयतक सेवन किया, जब यह शुद्ध पापरहित हुआ तो स्वप्नमें दर्शन देकर भगवान्की आज्ञासे यक्षोंके पति कुवेरने आज्ञा दी, कि तू आज घरमें जा क्षौर कराकर लकडी हाथमें ले छिपकर रहना. फिर इसही आंगनमें आये हुए भिक्षुकको देखेगा, उसे निर्दई हो लकडीके प्रहारसे मार डालना, तो वह सोनेका घडा हो जायगा, उससे तू जीवनपर्यंत सुखी होगा, फिर ऐसा करनेस वैसाही हुआ. वहां क्षार करनेको आये हुए नाईने देख सोचा अहो ! खजाना मिलनेका यह उपाय है. मैंभी योंही क्यों न करूं ? तवसे लेकर नाई प्रतिदिन वैसेही लकडी हाथमें लिये छिपकर भिक्षुकके आनेका मार्ग देखता. एक समय उसने आया हुआ भिक्षुक लकडीसे मारा. उस अपराधसे वह नाईभी राजपुरुषोंसे मारा गया. इससे मैं कहता हूं कि, पुण्यसे जो एकने पाया इत्यादि. राजा बोला-

' पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः ।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा किं वा विश्वासघातकः १०९॥

पहिली कथाओंके कहनेसे कसे दूसरेका निर्णय हो, कि कौन निष्कारण बंधु है और कौन विश्वासघातक है ॥ १०९ ॥

यातु । प्रस्तुतमनुसंधीयताम् । मलयाधित्यकायां चेच्चित्रवर्णस्तदधुना किं विधेयम् । ' मन्त्री वदति- ' देव आगतप्रणिधिमुखान्मया श्रुतं तन्महामन्त्रिणो

गृध्रस्योपदेशे यच्चित्रवर्णेनानादरः कृतः । ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः । तथा चोक्तम्-

पिछली बात जाने दो. जो है उसका अनुसंधान किया जावे. मलयागिरिकी ऊंची भूमिमें जो चित्रवर्ण है, तो अब क्या करना चाहिये. मंत्री बोला-देव आये हुए दूतके मुँहसे मैंने सुना है कि, महामंत्री गृध्रके उपदेशसे जो चित्रवर्णने अनादर किया है. इस कारण इस मूढका जीतना अशक्य नहीं है. जैसा कहा है-

लुब्धः क्रूरोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो योधावमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः ११०

लोभी, क्रूर (निठुर), आलसी, झूंठा, प्रमादी (कतव्र्यकी उपेक्षा करनेवाला), डरपोक, अस्थिर, मूढ, योधाओंका अपमान करनेवाला शत्रु सुखसे मारने योग्य कहा गया है ॥ ११० ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं न करोति तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तुं सारसादयः सेनापतयो नियुज्यन्ताम् । तथा चोक्तम्-

सो यह जबतक हमारे किलेके द्वारको न रोके, तबतक नदी पहाड वनके मार्गोंमें उसकी सेनाके मारनेको सारस आदि सेनापति भेजे जावें. जैसा कि, कहा है-

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं नद्यद्रिवनसंकुलम् ।
घोराग्निभयसंत्रस्तं क्षुत्पिपासार्दितं तथा ॥ १११ ॥

लंबे मार्गमें चलनेसे थके हुए, नदी, वन और पर्वतोंसे घिरे हुए घोर अग्निके भयसे भीत हुए तथा भूख प्याससे व्याकुल पीडित हुए ॥ १११ ॥

प्रमत्तं भोजनव्यग्रं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।
असंस्थितमभूयिष्ठं वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ ११२ ॥

उन्मत्त, भोजन करनेमें व्यग्र, रोग अथवा दुष्कालसे पीडित, जिसका चित्त स्थिर न हो, जो परिमाणमें न्यून हो और जो वर्षा तथा आंधीसे व्याकुल हो ॥ ११२ ॥

पङ्कपांशुजलाच्छन्नं सुव्यस्तं दस्युविद्रुतम् ।
एवंभूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥ ११३ ॥

जो अँदन, धूलि अथवा जलमें फँस गया हो, जो निश्चिन्त न हो, जो डाकुओंके द्वारा पीडित हो ऐसे परसैन्य (शत्रुओंकी सेना) को नष्ट कर डाले ॥ ११३ ॥

अन्यच्च ।

अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवासुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम् ॥ ११४ ॥

औरभी–राजाको उचित है, चढाईके भयसे जागी हुई, परिश्रमसे सोई हुई, निद्रासे व्याकुल हुई सेनाको अच्छी प्रकार मारे ॥ ११४ ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः ।' तथानुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः सेनापतयश्च बहवो निहताः । ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह–' तात, किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते। किं क्वाप्यविनयो ममास्ति। तथा चोक्तम्–

सो जाकर उस प्रमादीकी सेनाको हमारे सेनापति समय पाकर रात दिन मारे ऐसा करनेसे चित्रवर्णकी सेना और वहुतेरे सेनापति मारे गये. तो चित्रवर्णने दुःखी हो अपने मंत्री दूरदर्शीसे कहा–हे तात ! क्यों यह हमारी उपेक्षा की जाती है, क्या कहीं मेरी अविनय है, जैसे कहा है–

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरारूपमिवोत्तमम् ॥ ११५ ॥

मैंने राज्यको पा लिया है ऐसा जानके अयोग्यतासें न वर्ते क्यौंकि अविनय लक्ष्मीको ऐसे नष्ट करती है, जैसे वृद्धावस्था सुंदर रूपको ॥ ११५ ॥

अपि च।

दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी।
उद्युक्तो विद्यान्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः ॥११६॥'

औरभी–चतुर पुरुष लक्ष्मीको, पथ्यका भोजन करनेवाला आरोग्यताको, निरोगी सुखको, उद्योगी विद्याके पारको और विनीत धर्म अर्थ यशको पाता है ॥ ११६ ॥

गृध्रोऽवदत्–' देव, शृणु।

अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया।
परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा ॥ ११७ ॥

गृध्र बोला–देव ! सुनिये, मूर्ख राजाभी विद्यावान् पंडितों तथा वृद्धों (अमात्यादिकों) की सेवा करनेसे वृद्धि (उन्नति) रूप लक्ष्मीको ऐसा पाता है जैसे जलके समीपका वृक्ष वृद्धिको पाता है ॥ ११७ ॥

अन्यच्च।

पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥ ११८ ॥

औरभी–मद्यपान, स्त्रीसंसर्ग, मृगया (शिकार), जुवा, धनका दूषण, वचन और दण्डकी कठोरता ये राजाओंके दोष हैं ॥ ११८ ॥

किं च।

न साहसैकान्तरसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति संपदः ॥ ११९ ॥

औरभी–न एकान्त साहसहीके रसमें वर्तनेवाला और न उपायसे नष्टचित्तवालाही बडे ऐश्वर्यको पा सकता है. किंतु संपत्ति तो नीति और शूरतामेंही निवास करती है ॥ ११९ ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकवासिना मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्यपारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते । तथा चोक्तम्–

एक साहसहीमें वसनेवाले तुमने अपने बलके उत्साहको देख मेरी कही हुई संमतियोंमें अनादर और कठोर वचन कथन किया. सो इसी दुर्नीतिका यह फल भोगते हो, जैसा कहा है कि–

दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः
संतापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ।
कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति॥१२०॥

किस दुष्ट मंत्रणा करनेवालेको नीतिके दोष प्राप्त नहीं होते, किस अपथ्य भोजन करनेवालेको रोग नहीं संताप देते, लक्ष्मी किसको घमण्डी नहीं करती, मृत्यु किसको नहीं मारती और स्त्रीके किये हुए विषय किसे नहीं दुःख देते ? ॥ १२० ॥

अपरं च ।

मुदं विषादः शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः॥१२१॥'

औरभी–आनंदको शोक, शरदृतुको हिमर्तुका आगम अंधेरेको सूर्य, सुकृतकी कृतघ्नता, शोकको प्रियकी सिद्धि, आपत्तिको नीति

और बढी हुई लक्ष्मीको दुर्नीति नाश करती है ॥ १२१ ॥

ततो मयाप्यालोचितम्-'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा। नो चेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति। यतः-

तब मैंनेभी सोचा कि, यह राजा निर्बुद्धि है. नहीं तो नीतिशास्त्रकी कथारूपी चांदनीको वाणीरूपी उल्कासे क्यों चकाचौंधा देता. क्यौंकि-

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥१२२॥'

जिसे स्वयं बुद्धि नहीं है. उसे शास्त्र क्या कर सक्ता है? आंखोंसे रहितको दर्पण क्या करेगा ॥ १२२ ॥

इत्यालोच्य तूष्णीं स्थितः। अथ राजा बद्धाञ्जलिराह-'तात, अस्त्ययं ममापराधः। इदानीं यथावशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं गच्छामि तथोपदिश।' गृध्रः स्वगतं चिन्तयति-'क्रियतामत्र प्रतीकारः। यतः-

यह सोचकर मैं चुप हो रहा तो राजा हाथ जोडकर बोला-तात! यह मेरा अपराध है. अब जैसे शेषसेनासहित लौटकर विंध्याचलको जाऊं, वैसा उपदेश करो. गिद्धने मनमें सोचा. इसमें उपाय करना चाहिये. क्यौंकि-

दैवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च ॥१२३॥'

---

१ 'दैवतेषु च यत्नेन' 'ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च। वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥' 'अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः। येषां चान्नानि भुंजीत ये च स्युः शरणागताः ॥' इ. पा. म. भा.

देवता, गुरु, गौ, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और आतुर इन-पर क्रोधको सदा रोकना चाहिये ॥ १२३ ॥

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते– 'देव, मा भैषीः। समाश्वसिहि। शृणु देव,

मंत्री हँसकर बोला–कि देव! मत डरो! सावधान हो. सुनिये महाराज–

मन्त्रिणां भिन्नसंधाने भिषजां सांनिपातके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा सुस्थे को वा न पण्डितः १२४॥

भिन्नसन्धान (विगडेके वनाने) में अथवा शत्रुकी चेष्टाके जाननेमें मंत्रियोंकी और सन्निपातरोगमें वैद्योंकी बुद्धि कर्तव्यतासे जानी जाती है, अच्छी प्रकार स्थित हुएपर कौन पंडित नहीं है ? ॥१२४॥

अपरं च।

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः १२५

औरभी–अज्ञानी लोग थोडा आरंभ करते हैं तोभी वडी द्विविधासे व्याकुल होते हैं और विद्वान् वडा आरंभ करते हैं तोभी व्याकुल नहीं होते ॥ १२५ ॥

तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भंक्त्वा कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि।' राजाह– 'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्संपद्यते।' गृध्रो वदति– 'देव, सर्वं भविष्यति। यतो विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणं तत्सहसैव दुर्गावरोधः क्रियताम्।'

सो यहां आपके प्रतापसेही किला तोड थोडेही कालमें आपको

कीर्तिप्रतापसहित विंध्याचल ले जाऊंगा. राजा बोला–कैसे अब थोडी सेनासे ऐसा हो सकता है, गृध्र बोला–देव ! सब होगा. क्यौंकि जीतनेकी इच्छा करनेवालेको कालक्षेप न करना विजयकी सिद्धिका निश्चित लक्षण है. सो शीघ्र किला रोकना चाहिये.

प्रहितप्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य तत्कथितम्–'देव, स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य मन्त्रोपस्तम्भेन दुर्गावरोधं करिष्यति ।' राजाह–'सर्वज्ञ, किमधुना विधेयम् ।' चक्रो ब्रूते– 'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम् । तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं क्रियताम् । यतः–

भेजे हुए दूत बगलेने आकर हिरण्यगर्भसे यह कहा–हे देव ! थोडी सेनावालाही यह राजा चित्रवर्ण गिद्धकी संमतिसे किलेको रोकेगा. राजा बोला–सर्वज्ञ ! अब क्या करना चाहिये. चकवा बोला–अपने बलके सार असारका विचार करना चाहिये. यह जान उन्हें धनवस्त्रादि यथायोग्य प्रसन्नतासे दान करने चाहिये, क्योंकि–

यः काकिनीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥१२६॥

जो अकार्यमें पडी हुई दमडीकोभी हजार अशरफियोंकी समान ग्रहण करता है और समयपर करोडों रुपयेभी व्यय कर देता है. उस सिंहरूप राजाको लक्ष्मी नहीं छोडती ॥ १२६ ॥

अन्यच्च ।

क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये
यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे ।

प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु ॥१२७॥

और दूसरे–हे राजा! यज्ञ, विवाह, आपत्ति, शत्रुनाश, यश करनेवाला कर्म, मित्रसंग्रह, प्रिय स्त्री, निर्धन भाई इनमें द्रव्य लगाना अतिव्यय अर्थात् वृथा नहीं है ॥ १२७ ॥

यतः ।

मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि । कः
सुधीः संत्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात् १२८'

क्योंकि–मूर्ख थोडे खर्चके भयसे सबका नाश कर देता है. ऐसा कान पंडित है कि, व्याजके डरसे मूलको छोडता है ॥ १२८ ॥

राजाह–'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते। उक्तं च–आपदर्थे धनं रक्षेत्' इति। मन्त्री ब्रूते–'श्रीमतः कथमापदः।' राजाह–'कदाचिच्चलते लक्ष्मीः।' मन्त्री ब्रूते–'संचितापि विनश्यति। तद्देव, कार्पण्यं विमुच्य दानमानाभ्यां स्वभटाः पुरस्क्रियन्ताम्। तथा चोक्तम्–

राजा बोला–कैसे इस समय बहुत खर्च करना चाहिये, कहा है कि, आपत्के लिये धनकी रक्षा करे. मंत्री बोला–आपको क्या आपत्ति है. राजा बोला–कभी लक्ष्मी चलायमान हो जाय. मंत्री बोला–तो संचय किया हुआभी नष्ट होता है. सो देव! लोभ छोड दानमानसे अपने शूरवीरोंको पूजना चाहिये. जैसा कहा है–

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तं प्राणान्सुनिश्चिताः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम् १२९

१ 'त्यक्तप्राणाः' इ. पा. म. भा.

परस्परके जाननेवाले, प्रसन्न, पूजे हुए, कुलीन (शूरवीर) प्राणोंको छोडनेका निश्चय किये हुए शत्रुकी सेनाको अच्छी प्रकार जीतते हैं ॥ १२९ ॥

अपरं च ।

सुभटाः शीलसंपन्नाः संहताः कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशतं शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम् ॥१३०॥

औरभी-शीलयुक्त योधा परस्पर अनेक स्थिरबुद्धिवाले ऐसे पांच स' शूरभी शत्रुकी सेनाको मारते हैं ॥ १३० ॥

किं च ।

शिष्टैरप्यविशेषज्ञ उग्रश्च कृतनाशकः ।
त्यज्यते किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मंभरिर्नरः ॥१३१॥

वरन-विशेषका जाननेवाला क्रोधी, कृतघ्नी और जो अपनीही रक्षा करनेवाला मनुष्य है, उसे शिष्टपुरुषभी त्यागते हैं. क्या फिर और मनुष्य न त्यागेंगे ॥ १३१ ॥

यतः ।

सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् १३२

कारण कि-सत्य, शूरता, दया, उदारता ये राजाके बडे गुण हैं. इनसे छूटा हुआ राजा निश्चयकरके निंदा पाता है ॥ १३२ ॥

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदेव पुरस्कर्तव्यः । तथा चोक्तम्-

ऐसे प्रसंगमें पहले मंत्रीही पूजने चाहिये, क्योंकि ऐसा कहा है-

१ ' अपि वा पञ्च षट् सप्त संहताः कृतनिश्चयाः । कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्तीह शात्रवान् ॥ ' २ ' मृद्नन्ति परवाहिनीम् ' इ. पा. म. भा. ३ ' त्यागः सत्यं च शौर्यं च त्रय एते महागुणाः । प्राप्नोति हि गुणान्सर्वानेतैर्युक्तो नराधिपः ॥ ' इ. पा. का. नी.

यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी ।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च ॥१३३॥

जो जिसके साथ रहता है, वह उसीके साथ उदयवाला होता है. उसे विश्वासकरके प्राणों और धनोंके काममें लगाना चाहिये ॥१३३॥

यतः ।

धूर्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनाक्षिप्तः कार्याब्धौ स निमज्जति ॥१३४॥

क्योंकि–जिस राजाके स्त्री, पुत्र और मंत्री धूर्त हों, वह अनीतिकी वायुसे फेंका हुआ कार्यके समुद्रमें डूबता है ॥ १३४ ॥

शृणु देव,

हर्षक्रोधौ समौ यस्य शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च तस्य स्याद्धनदा धरा ॥१३५॥

सुनिये महाराज ! जिसे हर्ष और क्रोध समान है और शास्त्रोंके अर्थमें विश्वास है और जिसे सदा सेवकोंकी चिंता है, उसे पृथ्वी धन देनेवाली होती है ॥ १३५ ॥

येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम् ।
अमात्या इति तान्राजा नावमन्येत्कदाचन ॥१३६॥

जो मंत्री निश्चय करके राजाक साथ वृद्धि और हानिको प्राप्त होते हैं, राजा उनका कभी अनादर न करे ॥ १३६ ॥

यतः ।

महीभुजो मदान्धस्य संकीर्णस्येव दन्तिनः ।
स्खलतो हि करालम्बः सुहृत्सचिवचेष्टितम् १३७'

---

१ 'यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता । मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ' इ. पा. म. भा.

क्योंकि–गिरते हुए मदसे अंधे राजाको मतवाले हाथीकी समान श्रेष्ठ मंत्रीका कर्तव्य हाथके सहाय देनेके समान है॥ १३७॥

अथागत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते–'देव, दृष्टिप्रसादं कुरु। इदानीं विपक्षो दुर्गद्वारि वर्तते। तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि। तेन देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि।' चक्रो ब्रूते–'मैवम्। यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं तदा दुर्गाश्रयणमेव निष्प्रयोजनम्। अपरं च।

इसके पीछे मेघवर्ण आय प्रणाम कर बोला–देव! दयादृष्टि करो. अब शत्रु किलेके द्वारपर आ गया है, सो आपके चरणोंकी आज्ञासे बाहर निकलकर अपना पराक्रम दिखाता हूं कि जिससे आपके ऋणसे छूटूं. चकवा बोला–ऐसा मत करो, जो बाहर निकलकर युद्ध किया जावे तो किलेका आश्रय निष्प्रयोजन है. और देखो.

विषमो हि यथा नक्रः सलिलान्निर्गतो वशः।
वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत् १३८

जैसे विषम नाका पानीसे निकलकर वशमें होता है, और जैसे वनसे निकला हुआ शूर सिंहभी सत्यही गीदडके समान हो जाता है. (ऐसाही किलेसे निकला शूरभी निबल हो जाता है) ॥१३८॥

देव, स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम्। यतः–

देव! आप जाकर युद्धको देखिये. क्योंकि–

पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन्।
स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम् १३९'

---

१ 'नक्रः स्वस्थानमाश्रित्य गजेन्द्रमपि कर्षति। स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते॥' इ. पा.

राजा सेनाको आगे करके देखता हुआ युद्ध करे. स्वामीसे उत्साही किया हुआ कुत्ताभी क्या सिंहपना नहीं दिखाता ? ॥ १३९ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाहवं कृतवन्तः। अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच–' तात, स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय । ' गृध्रो ब्रूते–' देव, शृणु तावत् ।

इसके पीछे वे सब किलेके द्वारपर जा बडा युद्ध करने लगे, दूसरे दिन चित्रवर्ण राजा गिद्धसे बोला–हे तात ! अपनी प्रतिज्ञाको अब निवाहो. गिद्ध बोला–देव ! पहिले सुनिये–

अकालसहमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम् ।
अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १४० ॥

कुसमय सहनशील होना, परिमाण (संख्या) में अल्प (सेना) होना, स्वामीका मूर्ख और व्यसनी होना, (मन्त्रका) गुप्त न होना, अथच योधाओंका भीरु होना ये सब दुर्गके व्यसन हैं ॥ १४० ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ १४१ ॥

सो वह व्यसन यहां नहीं है. किलेको वश करनेके चार उपाय हैं एक परस्परमें भेद करना, दूसरा बहुत कालतक रुककर रहना, तीसरा आक्रमण और चौथा तीव्र पारुष ॥ १४१ ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः । (कर्णे कथयति) । एवमेव । ' ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु वृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः । ततः ' गृहीतं गृहीतं दुर्गम् ' इति कोलाहलं श्रुत्वा

सर्वतः प्रदीप्ताग्निमवलोक्य राजहंससैनिका दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः। यतः–

इसमें यथायोग्य यत्न किया जाता है. (कानमें बोला) हां ऐसाही करना चाहिये, फिर सूर्यके उदय होनेसे पहलेही चारों किलेके द्वारोंमें युद्ध होता था कि, किलेके बीचके घरमें कौवेने अवसर पाकर अग्नि लगाई, तो किला घेर लिया, घेर लिया ऐसा कोलाहल सुनकर सब ओर जलती हुई अग्नि देख राजहंसकी सेना और किलेके निवासी शीघ्र तालावमें घुस गये. क्योंकि–

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत्॥१४२॥

कार्यके समय जो मंत्रणा की गई हो उसे अच्छी तरह करे वा अच्छा पराक्रम और अच्छा युद्ध करे अथवा अच्छी तरह पलायन कर जाय परतु विचार न करता रहे॥ १४२॥

राजहंसः स्वभावान्मन्दगतिः सारसद्वितीयश्च चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनागत्य वेष्टितः। हिरण्यगर्भः सारसमाह–'सारस सेनापते, ममानुरोधादात्मानं कथं व्यापादयिष्यसि। त्वमधुना गन्तुं शक्तः। तत्कृत्वा जलं प्रविश्यात्मानं परिरक्ष। अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञसंमत्या राजानं करिष्यासि।' सारसो ब्रूते–'देव, न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः। यावच्चन्द्राकौं दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः। अहं देव, दुर्गाधिकारी। मन्मांसासृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना प्रविशतु शत्रुः। अपरं च।

राजहंस स्वभावहीसे मंदगामी था और सारसही उसका सहायकारी था, उस समय चित्रवर्णके सेनापति कुक्कुटने आकर घेर

लिया, हिरण्यगर्भ सारससे बोला—हे सारस सेनापति! मेरे कारण अपनेको क्यों मारता है ? तू अब भागनेको समर्थ है. सो जलमें घुसकर अपनी रक्षा कर. चूडामणि नाम मेरे पुत्रको सर्वज्ञकी संमतिसे राजा करना. सारस बोला कि, देव ऐसा दुःसह वचन मत कहो. जबतक चंद्र सूर्य आकाशमें हैं तबतक आप विजय पावें. हे देव! मैं दुर्गका अधिकारी हूं मेरे मांसरक्तसे लिप्तमार्गमें शत्रु प्रवेश करें. (अर्थात् मेरे मरनेपर शत्रु यहां पांव धरेंगे) और महाराज !

दाता क्षमी गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते ।'

दाता, क्षमावान् और गुणका ग्रहण करनेवाला स्वामी कठिनतासे मिलता है.

राजाह—' सत्यमेवैतत् । किंतु ।

राजा बोला—यह सत्य है परन्तु—

शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः १४३'

पवित्र, चतुर, अनुरागी भृत्यभी दुर्लभ है. यह मैं जानताहूं ॥ १४३॥

सारसो ब्रूते—' शृणु देव,

सारस बोला—देव सुनिये,

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियते ॥ १४४ ॥

यदि युद्ध छोडकर मृत्युका भय न हो तो और जगह जाना श्रेष्ठ है, और जब प्राणीका मरण अवश्य होता है तो फिर यशको वृथाही क्यों मलीन करे ॥ १४४ ॥

अन्यच्च।

भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः॥ १४५॥

औरभी-जैसे वायुके उद्वेगसे समुद्रकी तरंगें उठती और नष्ट होती हैं ऐसेही नष्ट होनेवाले इस संसारमें बडे पुण्यके योगसे पराये लिये जीवनका व्यय होता है॥ १४५॥

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च॥ १४६॥

स्वामी, मंत्री, राज्य, किला, खजाना, सेना, सुहृद्, प्रजा और नगरोंका समूह ये राज्यके अंग हैं॥ १४६॥

देव, त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः। यतः-

हे देव! आप स्वामी सब प्रकारसे रक्षा करने योग्य हैं. क्योंकि-

प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि॥ १४७॥

बढी हुई प्रजाभी स्वामीके विना नहीं जीती, आयु व्यतीत होनेपर धन्वंतरि वैद्यभी क्या कर सकता है॥ १४७॥

अपरं च।

नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति निमीलति।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्॥ १४८॥'

औरभी-राजाके नेत्र मूंदनेपर आंख मीच लेता है और उसके उदय होनेपर उदय होता है. जैसे सूर्यके उदय अस्त होनेसे कमल खिलता मूंदता है॥ १४८॥

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः'। तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहान्तरि-

१ 'नरेश्वरे जगत् सर्वं' २ 'सूर्योदये यथाम्भोजं तत्प्रबोधे प्रबुध्यते। इ. पा. का. नी.

तो राजा जले क्षिप्तः । अथ कुक्कुटैर्नखप्रहारजर्जरीकृतेन सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हता । पश्चात्सारसोऽपि चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः । अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा बन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः स्वस्कन्धावारं जगाम ।

इस समय कुक्कुटने आकर राजहंसके शरीरमें बडे तीक्ष्ण नखोंसे प्रहार किया. तो शीघ्रता कर सारसने अपने देहसे छिपा राजाको जलमें फेंका फिर कुक्कटके नखके प्रहारसे पीडित हो सारसने बहुतसी कुक्कुटकी सेना मारी, फिर सारसभी चोंचके प्रहारसे भिदकर मारा गया. तो चित्रवर्ण किलेमें जाय किलेमें रक्खे धनको ले बंदीजनोंके जयशब्दोंसे आनंदित हो अपने सेनानिवेशको चला गया.

अथ राजपुत्रैरुक्तम्–' तस्मिन्राजबले स पुण्यवान्सारस एव येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः । उक्तं चैतत्–

फिर राजपुत्रोंने कहा कि, उस सेनामें वह सारसही पुण्यात्मा था, जिसने अपना देह त्याग स्वामीकी रक्षा करी. कहा है–

जनयन्ति सुतान्गावः सर्वा एव गवाकृतीन् ।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम् १४९ '

सब गायें गायकी सूरतके समान पुत्रोंको पैदा करती हैं, परंतु जिसके कंधे सींगसे चिह्नित हों ऐसे गोपतिको कोईही उत्पन्न करती है ॥ १४९ ॥

विष्णुशर्मोवाच–' स तावद्विद्याधरीपरिजनः स्वर्गसुखमनुभवतु महासत्त्वः । तथा चोक्तम्–

विष्णुशर्मा बोला–सो अब विद्याधरियोंके परिवारसहित वह महापुरुष स्वर्गका सुख पावे. जैसा कहा है–

आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः ।
भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः १५० ॥

जो शूर संग्राममें स्वामीके लिये जीवन छोडते हैं और स्वामीके भक्त और कृतज्ञ हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ १५० ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥१५१॥

शत्रुओंसे घेरा हुआ शूर चाहे जहां मारा जाय वह अक्षय लोकोंको पाता है. पर यदि कायरताको प्राप्त न हो ॥ १५१ ॥

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः । 'राजपुत्रैरुक्तम्-' श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम् । ' विष्णु शर्माब्रवीत्-' अपरमप्येवमस्तु ।

तुमने विग्रह सुना ? राजपुत्र बोले-हां हम सुनकर परम सुखी हुए । विष्णुशर्माने कहा-और यहभी हो ।

विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि-
र्नो कदापि भवतां महीभुजाम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः ॥ १५२ ॥ '

इति हितोपदेशे विग्रहो नाम तृतीयः
कथासंग्रहः समाप्तः ।

आप राजाओंका संग्राम हाथी घोडे पैदलोंसे कभी न हो, नीतिके मंत्रोंकी वायुसे पीडित शत्रु लोग पहाडकी गुफाका आश्रय लें॥१५२॥

मुरादाबादवास्तव्यत्रजरत्नभट्टाचार्यकृतभाषानुवादसहित
हितोपदेशका विग्रह समाप्त ॥ ३ ॥

संधिः।

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्ररुक्तम्—'आर्य, विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः । संधिरधुनाभिधीयताम् ।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम् । संधिमपि कथयामि यस्यायमाद्यः श्लोकः—

फिर कथाके आरम्भसमयमें राजपुत्रोंने कहा—हे आर्य ! हमने विग्रह सुना अब संधि कहिये. विष्णुशर्मा बोला—सुनिये संधिभी कहता हूं, जिसके पहले यह श्लोक है—

वृत्ते महति सङ्ग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।
स्थेयाभ्यां गृध्रचक्राभ्यां वाचा संधिः कृतः क्षणात् १'

जिन दो राजाओंकी सेना मारी गई उनका बडा युद्ध होनेपर मध्यस्थ बने हुए गिद्ध और चकवोंने क्षणभर बातचीत कराकर संधि कराई ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ।' विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—यह कैसे ? विष्णुशर्मा बोला—

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—'केनास्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः । किं पारक्येण किंवास्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ।' चक्रो ब्रूते—'देव, भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते । तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।' राजा क्षणं विचिन्त्याह—'अस्ति तावदेव मम दुर्दैवमेतत् । तथा चोक्तम्—

तो उस राजहंसनें कहा कि—किसने हमारे किलेमें अग्नि फेंकी ? किसी गैरने या हमारे किलेमें रहनेवाले किसी शत्रुसे मिले हुएने. चकवा बोला—देव ! वह आपका अकारण बंधु मेघवर्ण परीवारसहित

नहीं दीखता. इससे मैं जानता हूं कि, इसीका यह कर्तव्य है. राज क्षणमात्र सोचकर बोला-ऐसा हो यह मेरा दुर्भाग्य है. कहा है-

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम्।
कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति ॥ २ ॥'

यह अपराध प्रारब्धका है, मंत्रियोंका नहीं है, कोई अच्छा कार्यभी प्रारब्धके वशसे नष्ट होता है ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते-'उक्तमेवैतत्।

मंत्री बोला-यह कहाही है कि-

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

विषम दशाको पाकर मनुष्य प्रारब्धकी निंदा करता है, किंतु वह मूर्ख अपने कार्यके दोषोंको नहीं जानता ॥ ३ ॥

अपरं च।

सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥ ४ ॥

औरभी-जो हितकी इच्छा करनेवाले सुहृदोंक वचनोंको नहीं मानता, वह दुर्बुद्धि काष्ठसे गिरे हुए कच्छपकी समान नष्ट होता है ॥ ४ ॥

अन्यच्च।

रक्षितव्यं सदा वाक्यं वाक्याद्भवति नाशनम्।
हंसाभ्यां नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा ॥ ५ ॥'

औरभी-सदा वाक्यकी रक्षा करनी चाहिये. वाक्यहीसे नाश होता है. जैसे (वचन न माननेसे) हंसोंसे लाया हुआ कच्छप गिरा ॥ ५ ॥

राजाह–'कथमेतत्।' मन्त्री कथयति–
राजा बोला–यह कैसे ? मंत्री बोला–

कथा ॥ १ ॥

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः। तत्र चिरं संकटविकटनामानौ हंसौ निवसतः। तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति। अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तम्–'यदत्रास्माभिरद्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः।' तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह–'सुहृदौ, श्रुतोऽयं धीवरालापः। अधुना किं मया कर्तव्यम्।' हंसावाहतुः–'ज्ञायताम्। पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम्। कूर्मो ब्रूते–'मैवम्।' यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र। तथा चोक्तम्–

मगधदेशमें फुल्लोत्पल नाम सरोवर है वहां बहुत समयसे संकट विकट नाम दो हंस बसते थे, उनका मित्र कंबुग्रीव नामक कच्छपभी रहता था. एक समय धीवरोंने आकर कहा–कि हम यहां आज रहकर प्रातःकालको मच्छकच्छपादिक मारेंगे, यह कच्छपने हंसोंसे कहा. हे मित्रो ! यह धीवरोंका कहना सुना. मुझे अब क्या करना चाहिये. हंस बोले–पहले जानना चाहिये. फिर प्रातःकालको जैसे योग्य हो वह करना चाहिये. कच्छप बोला–यह नहीं क्योंकि मैंने पहले यहां आपत्ति देखी है. जैसा कि कहा है–

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ६ ॥

अनागतविधाता (विपत्ति आनेसे पहलेही उपाय सोचनेवाला) और प्रत्युत्पन्नमति (विपत्ति आनेपर उपाय करनेवाला) ये दोनों

सुखसे रहे और यद्भविष्य (प्रारब्धका आसरा करनेवाला) नष्ट हुआ ॥ ६ ॥

तावाहतुः–'कथमेतत्।' कूर्मः कथयति–

वे दोनों बोले–यह कैसे ? कच्छप बोला–

कथा ॥ २ ॥

पुरास्मिन्नेव सरस्येवंविधेषु धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणालोचितम्। तत्रानागतविधाता नामैको मत्स्यः। तेनालोचितम्–'अहं तावज्जलाशयान्तरं गच्छामि।' इत्युक्त्वा ह्रदान्तरं गतः। अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितम्–'भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात्कुत्र मया गन्तव्यम्। तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्। तथा चोक्तम्–

पहिले इस सर (तालाव) में इसी प्रकार धीवरोंके आनेपर तीनों मच्छोंने सोचा तो अनागतविधाता नाम एक मच्छ था. उसने सोचा कि–मैं अब दूसरे सरोवरको जाता हूं. यह कह दूसरे तालावमें गया, दूसरे प्रत्युत्पन्नमतिनाम मच्छने कहा कि, आगेके लिये प्रमाणके न होनेसे मैं कहां जाऊं, सो विपत्तिके उत्पन्न होनेपर जैसा करना योग्य हो, वैसा करना चाहिये. जैसा कहा है–

उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा ॥ ७ ॥'

उत्पन्न आपत्तिका जो समाधान करता है, वह बुद्धिमान् है. जैसे बनियेकी स्त्रीने जारको नेत्रोंके सन्मुखभी छिपा लिया ॥ ७ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति–'कथमेतत्।' प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति–

यद्भविष्यने पूछा–यह कैसे ? प्रत्युत्पन्नमति बोला–

कथा ॥ ३ ॥

पुरा विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति । तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते । (न स्त्रीणामप्रियः कश्चिदित्यादि ।) अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता । ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाह–' नाथ, एतस्य सेवकस्य महती निर्वृतिः । यतोऽयं चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादतीति मयास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम् ।' (तथा चोक्तम्–' आहारो द्विगुणः स्त्रीणाम् ' इत्यादि ।) तच्छ्रुत्वा सेवकेन प्रकुप्योक्तम्–' नाथ, यस्य स्वामिनो गृह एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यं यत्र प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति । ' ततोऽसावुत्थाय चलितः साधुना यत्नात्प्रबोध्य धृतः । अतोऽहं ब्रवीमि–' उत्पन्नामापदम् ' इत्यादि । ततो यद्भविष्येणोक्तम्–

प्रथम विक्रमपुरमें समुद्रदत्त नाम वैश्य था. उसकी रत्नप्रभा नाम स्त्री अपने सेवकसे सदा रमण करती थी. (किसीने सच कहा है कि स्त्रियोंको अप्रिय कोई नहीं है इत्यादि ।) फिर एक समय वह रत्नप्रभा उस सेवकके मुखको चूमती हुई उसके पति समुद्रदत्तसे देखी गई, तो वह छिनार शीघ्र भर्त्ताके पास जाके बोली–हे स्वामी ! यह सेवक बडा कुचाली है, कि यह चोरी करके कपूर खाता था मैंने इसका मुँह सूंघकर वह जाना. (कहा है–कि स्त्रियोंका आहार दुगुना होता है इत्यादि ।) यह सुन सेवक क्रोधसे बोला–हे नाथ !

जिस स्वामीके घर ऐसी स्त्री कि प्रतिक्षण सेवकका मुँह सूंघती है वहां सेवक कैसे ठहरे, सो वह उठकर चला. बनियेने यत्नसे समझाकर उसे रक्खा. इससे मैं कहता हूं कि–जो उत्पन्न आपत्तिसे बचे वह बुद्धिमान् है. यद्भविष्य बोला–

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ॥८॥'

जो होनेवाला है सो अन्यथा नहीं होता और जो न होगा वह नहीं होगा. इस चिंतारूपी विषकी यह औषधी क्यों न पी जाय॥८॥

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं संदर्श्य स्थितः । ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः । यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि–' अनागतविधाता ' इत्यादि ॥

सो प्रातःकालको जालसे बँधा हुआ प्रत्युत्पन्नमति अपने आपको मृतककी समान दिखाकर ठहरा, सो जालके फेंके जानेपर यथाशक्ति कूदकर गहरे जलमें घुस गया. यद्भविष्यको धीवरोंने पकडकर मार डाला. इससे मैं कहता हूं कि–जैसे कि–अनागतविधाता आदि ।

तद्यथाहमन्यह्रदं प्राप्नोमि तथा क्रियताम् । ' हंसावाहतुः–' जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम् । स्थले गच्छतस्ते को विधिः । ' कूर्म आह–' यथाहं भवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि तथा विधीयताम् । ' हंसौ ब्रूतः–' कथमुपायः संभवति । ' कच्छपो वदति । 'युवाभ्यां चञ्चुधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनावलम्ब्य

गन्तव्यम् । युवयोः पक्षबलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम् । ' हंसौ ब्रूतः– ' संभवत्येष उपायः । किंतु–

सो जैसे मैं दूसरे तालावमें पहुँचूं ; वैसा कीजिये. हंस बोले– दूसरे जलस्थानमें जानेसे तेरी कुशल है. परंतु पृथ्वीपर जानेका क्या उपाय है ? कच्छप बोला–जैसें मैं आपके साथ आकाशके रास्तेसे जा सकूं वैसा कीजिये. दोनों हंस बोले–क्या उपाय हो ? कच्छप वोला–मैं तुम दोनोंसे चोंचमें रक्खा हुआ एक काष्ठका टुकडा अपने मुँहसे पकडकर जा सकता हूं, तुम्हारे पंखोंके बलसे मैं भी सुखपूर्वक चला जाऊंगा. हंस बोले–यह उपाय तो हो सकता है. परंतु–

उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः ॥ ९ ॥'

विद्वान् उपायको सोचता हुआ, अपाय (दुःख) कोभी सोचे. क्योंकि मूर्ख बगलेके देखतेही नकुलोंने उसके बच्चोंको खा लिया ॥ ९ ॥

कूर्मः पृच्छति–' कथमेतत् । ' तौ कथयतः–

कूर्मने पूछा–यह कसे हुआ ? वे दोनों बोले–

कथा ॥ ४ ॥

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः । तत्रानेकबका निवसन्ति । तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पो बालापत्यानि खादति । अथ शोकार्तानां बकानां विलापं श्रुत्वा केनाचिद्बकेनाभिहितम्–' एवं कुरुत । यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण विकिरत । ततस्तदाहारलुब्धै-

र्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः। स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च।' तथानुष्ठिते तद्वृत्तम्। ततस्तत्र वृक्षे नकुलैर्बकशावकरावः श्रुतः। पश्चात्तैर्वृक्षमारुह्य बकशावकाः खादिताः। अत आवां ब्रूवः–'उपायं चिन्तयन्' इत्यादि॥

उत्तरकी ओर गृध्रकूट नामवाले पर्वतपर बडा पीपलका वृक्ष था, वहां बहुतसे वगले रहते थे. उस पेडके नीचे भट्टेमें सांप वच्चोंको खा जाता था, तो दुःखी बगलोंका रोना सुन किसी बगलेने कहा कि, ऐसे करो, तुम मछलियोंको लेकर नौलेके भट्टेसे सांपके भट्टेतक पांति बांध वखेरो, तो उस भोजनके लोभी नौले आकर सांपको देखेंगे तो स्वाभाविक वैरसेही सांपको मारेंगे. ऐसा करनेसे वैसाही हुआ, तव उस वृक्षपर नौलोंने वगलोंके वच्चोंका शब्द सुना, फिर उन्होंने वृक्षपर चढ बगलोंके बच्चे खाये. सो हम दोनों कहते हैं कि–उपायको सोचते समय अपायकोभी सोचे, इत्यादि।

'आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किंचिद्वक्तव्यमेव। तदाकर्ण्य यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा त्वन्मरणम्। तत्सर्वथात्रैव स्थीयताम्।' कूर्मो वदति–'किमहमप्राज्ञः। नाहमुत्तरं दास्यामि। किमपि न वक्तव्यम्।' तथानुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति वदन्ति च। कश्चिद्वदति–'यदायं कूर्मः पतति तदात्रैव पक्त्वा खादितव्यः।' कश्चिद्वदति–'अत्रैव दग्ध्वा खादितव्योऽयम्।' कश्चिद्वदति–'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह–'युष्माभिर्भस्म

भक्षितव्यम् ।' इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि–' सुहृदां हितकामानाम् ' इत्यादि ।

हम दोनोंसे ले जाते हुए तुझे देख मनुष्य कुछ कहेंगे, उसे सुन जो तू उत्तर देगा तो तेरा मरण होगा. सो सब प्रकार आप यहांही ठहरिये. कच्छप बोला–क्या मैं मूर्ख हूं ? मैं उत्तर नहीं दूंगा, कुछभी न बोलूंगा. ऐसा करनेसे उस प्रकारसे कच्छपको देख सब ग्वालिये पीछे दौडे और बोले कोई बोला–जो यह कछुआ गिरे तो यहांही पकाकर खाऊं, कोई बोला–इसे यहांही जलाकर खाऊं, कोई बोला–घर ले जाकर खाना चाहिये, उनके वचनोंको सुन कछु-आ कोपमें भर पहला कहा भूलकर बोला–" तुम खाक खाओगे " यह कहतेही गिरा. और उनसे मारा गया. इससे मैं कहता हूं कि, हित चाहनेवाले मित्रोंका वचन जो नहीं मानता, इत्यादि ।

अथ प्रणिधिर्बकस्तत्रागत्योवाच–' देव, प्रागेव मया निगदितम् । दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्तव्यमिति । तच्च युष्माभिर्न कृतं तदनवधानस्य फलमनुभूतम् । दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः ।' राजा निःश्वस्याह–

तो बगला दूत वहां आकर बोला–हे देव ! पहलेही मैंने कहा था, प्रतिक्षण किलेका शोधन करना योग्य है. सो आपने न किया. उस असावधानीका यह फल पाया. किलेमें अग्निदाह मेघवर्ण कौवे गिद्धके भेजे हुएने किया. राजा श्वास लेकर बोला–

' प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुद्ध्यते ॥ १० ॥'

---

१ ' योऽरिणा सह सन्धाय सुखं स्वपिति विश्वसन् । स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा ' इ. पा. म. भा.

प्रीति या उपकारसे जो शत्रुओंमें विश्वास करता है वह सोता हुआ वृक्षकी शाखाके अग्रसे गिरकर जागता है ॥ १० ॥

प्रणिधिरुवाच-'इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्-' अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम् । तथा चोक्तम्-

दूत बोला-यहां किला जलाकर जब मेघवर्ण गया तो चित्रवर्ण प्रसन्न होकर बोला-इस मेघवर्णको इस कर्पूरद्वीपके राज्यमें अभिषेक करना चाहिये. जैसा कि कहा है-

कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ॥ ११॥ '

कृतकार्य (भलाई करनेवाले) सेवककी भलाईको नष्ट न करे, किन्तु उचित पुरस्कार, वचन और दृष्टिसे उसे प्रसन्न करे ॥ ११ ॥

चक्रवाको ब्रूते-' ततस्ततः । ' प्रणिधिरुवाच-' ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाभिहितम्-' देव, नेदमुचितम् । प्रसादान्तरं किमपि क्रियताम् । यतः-

चकवा बोला-फिर क्या हुआ ? दूतने कहा-तो फिर प्रधानमंत्री गिद्धने कहा, हे देव ! यह योग्य नहीं और कोई प्रसन्नता कीजिये. कारण कि-

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव मुद्रितम् ॥ १२ ॥ '

हे राजा ! विना विचारे युक्ति कहना भूसेका पीसना है, नीचोंमें उपकार करना यह वालू (रेत) में चिह्न करनेके समान है. (अर्थात् रेतका चिह्न क्षणमात्रमें मिट जाता है) ॥ १२ ॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्तव्यः । तथा चोक्तम्-

बडेके पदमें नीचको कभी न करना चाहिये. जैसा कि कहा है-

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा १३ ॥ '

नीच प्रशंसायोग्य पदवीको पाकर स्वामीके मारनेकी इच्छा करता है, चूहा व्याघ्रताको पाकर मुनिको मारने चला था ॥ १३ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति–' कथमेतत् । ' मन्त्री कथयति–

चित्रवर्णने पूंछा–यह कैसे ? मंत्री बोला–

कथा ॥ ८ ॥

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तत्र तेन मुनिना काकेन नीयमानो मूषिकशावको दृष्टः । ततः स्वभावदयात्मना तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्धितः । ततो बिडालस्तं मूषिकं खादितुमुपधावति । तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश । ततो मुनिनोक्तम्–' मूषिक, त्वं मार्जारो भव । ' ततः स बिडालः कुक्कुरं दृष्ट्वा पलायते । ततो मुनिनोक्तम्–' कुक्कुराद्बिभेषि । त्वमेव कुक्कुरो भव । ' स च कुक्कुरो व्याघ्राद्बिभेति । ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्रः कृतः । अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं मुनिं दृष्ट्वा व्याघ्रं च सर्वे वदन्ति– ' अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः । ' एतच्छ्रुत्वा स व्याघ्रोऽचिन्तयत्–' यावदनेन मुनिना स्थातव्यं तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते ' इत्यालोच्य मूषिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा ' पुनर्मूषिको भव ' इत्युक्त्वा

मूषिक एव कृतः । " जायतेऽधोनिपाताय दुर्जनानां समुन्नतिः " अतोऽहं ब्रवीमि–' नीचः श्लाघ्यपदम् ' इत्यादि ॥

गौतममहर्षिके तपोवनमें महातप नाम मुनि थे वहां उस मुनिने कौवेसे लाया हुआ चूहेका बच्चा देखा, तो स्वभावसे दयालु उस मुनिने नीवार (मुनिअन्न) के कणोंसे उस बच्चेको पालकर खडा किया. तो कभी उस मूषेको खानेके लिये बिलाव दौडा, उसे देख मूषा उन मुनिके क्रोड (गोद) में घुस गया, तो मुनि बोले–हे चूहे ! तू बिलाव हो जा. तो वह बिलाव कुत्तेको देखकर भागा, तो मुनि बोले कुत्तेसे डरता है ? तो तूभी कुत्ताही हो जा, वह कुत्ता व्याघ्रसे डरता तो मुनिने उस कुत्तेको व्याघ्र बना दिया तो उस व्याघ्रको मुनि " यह मूषिक है " ऐसा देखता तो उस मुनि और व्याघ्रको देख सब कहते, इस मुनिने यह मूषिक व्याघ्रताको प्राप्त किया है. यह सुन उस व्याघ्रने सोचा कि जबतक यह मुनि रहेगा, तबतक मेरे इस अकीर्ति करनेवाले स्वरूपके कहनेको यह न छोडेंगे. यह सोच मूषक उस मुनिके मारनेको चला, तो मुनिने यह जानकर " फिर मूषा हो " यह कह उसे मूषाही बना दिया. " कहाभी है दुर्जनोंकी उन्नति नीचेही गिरनेके लिये होती है " इससे मैं कहता हूं कि–नीच श्लाघ्यपदको पाकर, इत्यादि ।

अपरं च । सुकरमिदमिति न मन्तव्यम् । शृणु ।

और नीचको उच्चपद देना आसान है यह न समझना चाहिये, सुनिये.

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।
अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात् ॥१४॥ '

बगला बडे लोभसे बहुतसे बडे, छोटे, समान मच्छोंको खाकर फिर केंकडेके पकडनेसे मारा गया ॥ १४ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति–' कथमेतत् ।' मन्त्री कथयति–
चित्रवर्णने पूछा–यह कैसे हुआ ? मंत्री बोला–

कथा ॥ ७ ॥

अस्ति मालवदेशे पद्मगर्भनामधेयं सरः । तत्रैको वृद्धो बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः स च केनचित्कुलीरेण दृष्टः पृष्टश्च–' किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति ।' बकेनोक्तम्–'मत्स्या मम जीवनहेतवः । ते कैवर्तैरागत्य व्यापादयितव्या इति वार्ता नगरोपान्ते मया श्रुता । अतो वर्तनाभावादेवास्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाहारेऽप्यनादरः कृतः ।' ततो मत्स्यैरालोचितम्–' इह समये तावदुपकारक एवायं लक्ष्यते । तदयमेव यथाकर्तव्यं पृच्छ्यताम् । तथा चोक्तम्–

मालवदेशमें पद्मगर्भनाम सरोवर है. वहां एक बूढा बगला सामर्थ्यरहित दुःखीके समान अपनेको दिखाकर स्थित हुआ. उसे किसी कैंकडेने देखा और पूछा–आप यहां भोजन छोडकर क्यौं बैठे हैं ? बगला बोला–मछली मेरे जीवनकी हेतु हैं, उन्हें धीवर आकर मारेंगे. यह बात नगरके समीप मैंने सुनी है. सो वृत्तिके न होनेसे मेरा मरण निश्चय उपस्थित होगा, यह जानकर भोजनमेंभी अनादर किया है. तो मच्छोंने सोचा कि–यह इस समय तो उपकार करनेवालाही दीखता है सो इसे जैसा करने योग्य हो सो उपाय पूछना चाहिये. जैसा कहा है–

उपकर्त्रारिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ १५ ॥'

उपकारी शत्रुसेभी मेल करे, अपकारी मित्रसे न करे, क्योंकि इन दोनोंके उपकार और अपकारही लक्षण समझने चाहिये ॥ १९ ॥

मत्स्या ऊचुः 'भो बक, कोऽत्रास्माकं रक्षणोपायः।' बको ब्रूते–'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम्। तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि।' मत्स्या आहुः–'एवमस्तु।' ततोऽसौ बकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा खादति। अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच–'भो बक, मामपि तत्र नय।' ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान्। कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णं तत्स्थलमालोक्याचिन्तयत्–'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। भवतु। इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि' इत्यालोच्य कुलीरस्तस्य ग्रीवां चिच्छेद। स बकः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इत्यादि ॥

मच्छ बोले–हे बगले! इसमें रक्षाका क्या उपाय है? बगला बोला–रक्षाका उपाय दूसरे जलस्थानमें आसरा लेना है. तुम एक एकको मैं वहां ले जाऊंगा, मछलियें बोलीं कि, ऐसाही करो. तो वह बगला एक २ मछलीको ले जाकर खा लेता था, फिर कैंकडा उससे बोला–हे बगले! मुझेभी वहां ले जा. तो उत्तम कैंकडेके मांसकी इच्छा करनेवाले बगलेने आदरपूर्वक उसे ले जाकर पृथ्वीमें रक्खा, कैंकडेनेभी मछलियोंके कांटे जिसमें बिखरे पडे थे, ऐसी उस भूमिको देखकर विचारा–शोक! मैं अभागी मारा गया! जो हो सो हो! अब समयके योग्य काम करूंगा, यह सोच कैंकडेने उसकी गर्दन काटी तब वह बगला मर गया. इससे मैं कहता हूं– बगला बडे लोभसे, इत्यादि।

ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन्, मयैतदालोचितमस्ति ।' 'अत्रावस्थितेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तान्यस्माकमुपनेतव्यानि । तेनास्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम् ।' दूरदर्शी विहस्याह—'देव,

तो चित्रवर्ण बोला—हे मंत्री ! सुनो मैंने यह सोचा है कि, मेघवर्णराजाके यहां रहनेसे जितनी कर्पूरद्वीपकी उत्तम वस्तु है. यह हमें पहुँचावेगा. तो हमभी बडे सुखसे विंध्याचलमें रहेंगे. दूरदर्शी हँसकर बोला—देव !

अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा ॥१६॥'

न आनेवाली चिंता (विचार) को करके जो प्रसन्न होता है, वह तिरस्कार पाता है. जैसे बर्तन फोडनेसे ब्राह्मण तिरस्कृत हुआ ॥ १६ ॥

राजाह—'कथमेतत् ।' मन्त्री कथयति—

राजा बोला—यह कैसे ? मंत्री बोला—

कथा ॥ ७ ॥

अस्ति देवीकोटनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन महाविषुवत्संक्रान्त्यां सक्तुपूर्णशराव एकः प्राप्तः तमादायासौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाकुलितः सुप्तः । ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत्—'यद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि तदात्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिकमुप-

क्रीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिकमुपक्रीय विक्रीय वाणिज्यं कृत्वा लक्षसंख्यानि धनानि कृत्वा विवाहचतुष्टयं करिष्यामि। अनन्तरं तासु सपत्नीषु रूपयौवनवती या तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि। सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति तदा कोपाकुलोऽहं ता लगुडेन ताडयिष्यामि' इत्यभिधाय लगुडः क्षिप्तः। तेन सक्तुशरावश्चूर्णितो भाण्डानि च बहूनि भग्नानि। ततस्तेन शब्देनागतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य ब्राह्मणस्तिरस्कृतो मण्डपाद्बहिष्कृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि-'अनागतवतीं चिन्ताम्' इत्यादि॥ ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच-'तात, यथा कर्तव्यं तथोपदिश।' गृध्रो ब्रूते-

देवीकोट नाम नगरमें देवशर्मा नाम ब्राह्मण है. उसने महाविषुवत्संक्रांति अर्थात् मेषकी संक्रांतिमें सत्तूसे भरा एक सिकोरा पाया. वह उसे लेकर कुम्हारके वर्त्तनोंसे भरे मंडपके एक स्थानमें भयसे व्याकुल हो सोया. तो सत्तुओंकी रक्षाके लिये हाथमें लाठी ले सोचने लगा कि, जो मैं सत्तूके सिकोरेको बेच दश कौडी पाऊंगा; तो यहांही उन कौडियोंसे घडे सराई आदि मोल ले अनेक वार बढे हुए उस धनसे वारंवार सुपारी वस्त्रादि मोल ले बेच इस प्रकार व्यापार कर लाख रुपये कमाके चार विवाह करूंगा, फिर उन स्त्रियोंमें जो रूप और यौवनवाली होगी, उससे अधिक प्रीति करूंगा, जब वह कलह करेंगी तब मैं क्रोधमें भर

१ कुलार्णवमें लिखा है कि-'यो ददाति हि मेषादौ सक्तूनम्बुघटान्वितान्। पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यः सर्वपापैर्विमुच्यते॥' अपिच। 'मेषादौ सक्तवो देया वारिपूर्णा च गर्गरी।' इत्यादि।

उन्हें लाठीसे मारूंगा यह कह उसने लाठी फेंकी, उस लाठीसे सत्तूके सिकोरेका चूरा हो गया और बर्तनभी फूटे, तो कोलाहल होनेसे कुम्हारने आ उन फूटे वर्त्तनोंको देख ब्राह्मणका तिरस्कार किया और घरसे बाहर निकाला. इससे मैं कहता हूं-न आनेवाली चिंतासे, इत्यादि. फिर राजा एकान्तमें गिद्धसे बोला कि, हे तात ! जैसा करना चाहिये वैसा उपदेश करो. गृध्र बोला-

'मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् १७

मतवाले हाथीके समान मदमें भरे हुए राजाको कुमार्गमें ले जाकर अधिकारी निश्चय निंदाको पाते हैं ॥ १७ ॥

शृणु देव, किमस्माभिर्बलदर्पाद्दुर्गं भग्नम् । न । किंतु तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन ।' राजाह-'भवतामुपायेन ।' गृध्रो ब्रूते- 'यद्यस्मद्वचनं क्रियते तदा स्वदेशे गम्यताम् । अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनर्विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । सुखशोभार्थं संधाय गम्यताम् । दुर्गं भग्नं कीर्तिश्च लब्धैव । मम संमतं तावदेतत् । यतः-

देव ! सुनिये, क्या हमने बलके अभिमानसे किला तोडा ? नहीं, केवल तुम्हारे किये हुए उपायसे जीता. राजा बोला-आपके उपायसे । गिद्ध बोला-जो हमारा कहा करो तो अपने देशको चलो. नहीं तो बरसात आनेपर फिर युद्ध होनेसे पराई भूमिमें ठहरे हुए हम लोगोंका अपने देशमें जानाभी दुर्लभ हो जायगा. सुख और शोभाके लिये संधि करके जाना चाहिये, किला तोडा और कीर्तिभी पा ली मेरा संमत तो यही है. कारण कि-

यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।

अप्रियाण्याह तथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥१८॥

जो धर्मको आगे करके, स्वामीके प्रिय अप्रियमें, अप्रियको छोडकर यथार्थ कहे, उससे राजा सहायवान् होता है ॥ १८ ॥

अन्यच्च ।

सुहृद्बलं तथा राज्यमात्मानं कीर्त्तिमेव च ।
युधि संदेहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः ॥ १९ ॥

औरभी—कौन। विद्वान् युद्धमें मित्रों, सेना अथवा राज्य, तथा अपनेको और बडाईको संदेहरूपी हिंडोलेमें रक्खेगा ? ॥ १९ ॥

अपरं च ।

संधिमिच्छेत्समेनापि संदिग्धो विजयो युधि ।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं नष्टौ तुल्यबलौ न किम् ॥२०॥'

औरभी—बराबरवालेसेभी संधिही करनी चाहिये, क्योंकि युद्धमें विजयका संदेह है, क्या बराबरबलवालेभी सुंद उपसुंद नष्ट नहीं हो गये ॥ २० ॥

राजोवाच—' कथमेतत् ।' मन्त्री कथयति—

राजा बोला—यह कैसे ? मंत्री बोला—

कथा ॥ ८ ॥

पुरा दैत्यौ महोदारौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता क्लेशेन त्रैलोक्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ। ततस्तयोर्भगवान्परितुष्टः ' वरं वरयतम् ' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः कंठाधिष्ठितया सरस्वत्या तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ । यद्यावयोर्भगवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु । अथ भगवता क्रुद्धेन

वरदानस्यावश्यकतया विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता । ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां जगद्घातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां पापतिमिराभ्यां ममेत्यन्योन्यकलहाभ्यां प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छ्यतामिति मतौ कृतायां स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः । अनन्तरम्, आवाभ्यामियं स्वबललब्धा, कस्येयमावयोर्भवति, इति ब्राह्मणमपृच्छताम् । ब्राह्मणो ब्रूते–

पहले सुंद उपसुंद नाम दैत्य बडे बलवान् व उदार थे. उन्होंने वहुत कष्टसे वहुत समयतक त्रिलोकीके राज्यकी इच्छा करके शिवजीका पूजन किया तो उन दोनोंपर शिवजी प्रसन्न हो "वर मांगो" यह बोले तब वे कहना तौ औरही कुछ चाहते थे, परन्तु उनके कंठपै सरस्वती आ वैठी अत एव कुछका कुछ कह वैठे कि जो हम दोनोंपर आप प्रसन्न हैं, तो अपनी भार्या पार्वतीको दीजिये. तव क्रोधमें भरे हुए शिवजीने वरदानकी आवश्यकतासे उन (विना विचार करनेवालों) को पार्वती दी. तो फिर उनके रूपकी शोभासे लुभायमान जगत्के घातक मनसे पार्वतीके लेनेमें आग्रह करनेवाले उन दोनों पापियोंने "यह मेरी है" इस प्रकार परस्पर क्लेश होनेसे किसी प्रमाणपुरुषसे पूछना चाहा, तो वही भट्टारक (शिवजी) वृद्ध ब्राह्मणका रूप धरकर वहां स्थित हुए फिर उन्होंने ब्राह्मणसे पूछा कि, हम दोनोंने अपने बलसे इस स्त्रीको पाया है. हम दोनोंमें यह किसकी हो सक्ती है ? तो ब्राह्मण वोला–

'[1]वर्णश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो बलवानपि ।
धनधान्याधिको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २१ ॥

१ 'ज्ञानश्रेष्ठो' इ. पा.

वर्णमें श्रेष्ठ होनेसे ब्राह्मण, बलवान् होनेसे क्षत्री, धनधान्ययुक्त होनेसे वैश्य, तीनों वर्णकी सेवासे शूद्र आदर पाता है ॥ २१ ॥

तद्युवां क्षत्रधर्मानुगौ । युद्ध एव युवयोर्नियमः । ' इत्यभिहिते सति ' साधूक्तमनेन ' इति कृत्वान्योन्यतुल्यवीर्यौ समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ । अतोऽहं ब्रवीमि–' संधिमिच्छेत्समेनापि ' इत्यादि ॥

सो तुम क्षत्रियधर्मानुयायी हो. युद्धही तुम्हारा नियम है. यह कहनेपर ' इसने सत्य कहा ' ऐसे कह परस्पर समान पराक्रमवाले एक समयमें एक दूसरेके घातसे दोनों नष्ट हुए. इससे मैं कहता हूं कि, समानसेभी संधि चाहे, इत्यादि ।

राजाह–' प्रागेव किं नोक्तं भवद्भिः । ' मन्त्री ब्रूते–' मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं श्रुतं भवद्भिः । तदापि मम संमत्या नायं विग्रहारम्भः । साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो न विग्राह्यः । तथा चोक्तम्–

राजा बोला–पहलेही आपने क्यों न कहा ? मंत्री बोला–क्या आपने मेरा संपूर्ण कथन सुना था ? फिर मेरी संमतिसे तो यह युद्ध आरंभ नहीं किया, श्रेष्ठ गुणयुक्त इस हिरण्यगर्भसे लडना योग्य नहीं है. जैसा कहा है–

सत्यार्यौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान्बली ।
अनेकयुद्धविजयी संधेयाः सप्त कीर्तिताः ॥ २२ ॥

सत्यवादी[1], आर्य[2], धार्मिक[3], अनार्य[4], बहुत बंधुवाला[5],

---

१ सत्यवादी–जो सदा सत्य बोले और लोकोत्तर कष्ट पडनेपरभी अपनी प्रतिज्ञासे न हिले । २ आर्य–जो व्यक्ति उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ हो और सदाचारी हो । ३ धार्मिक–जो सदैव शास्त्रोक्त धर्मका आचरण करे । ४ अनार्य–जिसका जन्म नीच जातिमें हुआ हो अतएव जो असभ्य और कदाचारसंपन्न हो । ५ बहुत बन्धुवाला–प्रभूत भाई बन्धु अथवा सजातीय जिसके सहायक हों ।

बलवान्[1] और अनेक युद्धमें विजय पानेवाला[2] ये सात संधि करने योग्य कहे गये हैं ॥ २२ ॥

यतश्च ।

सत्योऽनुपालयेत्सत्यं संधितो नैति विक्रियाम् ।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ॥२३॥

कारण कि—सत्यवादी सत्यको पालता है, और संधि करनेपर विकारको नहीं पाता. आर्य पंडित प्राणोंकी बाधापरभी स्पष्टतासे अनार्यताको प्राप्त नहीं होता ॥ २३ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ २४॥

शत्रुसे आक्रान्त हुए धार्मिककी ओरसे सब युद्ध करते हैं, प्रजापर प्रेम करनेसे और धर्मसे धार्मिक निश्चयही दुःख दूर करनेके योग्य है ॥ २४ ॥

संधिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याश्रयेणार्यः कुर्यान्न कालयापनम् ॥ २५ ॥

नाश प्राप्त होनेपर अनार्यसेभी संधि करना चाहिये, उसके आश्रयके विना आर्यको काल व्यतीत न करना चाहिये ॥ २५ ॥

संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवांस्तथा ॥ २६ ॥

जैसे मिला हुआ और घने कांटोंसे घिरा हुआ बांस नहीं काटा जा सकता. ऐसेही बंधुओंसे संपन्न मनुष्य नष्ट नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

---

१ बलवान्—जो धनबल, जनबल और नीतिशक्तिके बलसे प्रबल पराक्रमसंपन्न हो । २ अनेक युद्धविजयी—अपने प्रताप और रणकौशलसे जिसने अनेक युद्धोंमें विजय पाई हो ।

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २७ ॥

बलीसे युद्ध करना चाहिये. यह दृष्टांत नहीं है. क्योंकि–मेंघ वायुके विरुद्ध कभी नहीं चल सकता ॥ २७ ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ २८ ॥

परशुरामके समान अनेक युद्धोंको जीतना, सब जगह सब समय प्रतापहीसे जाना जाता है ॥ २८ ॥

अनेकयुद्धविजयी संधानं यस्य गच्छति।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः ॥ २९ ॥

अनेक युद्धमें जीतनेवाला जिसकी सहायताको प्राप्त होता है. उसके प्रतापसे उसके शत्रु शीघ्र वशीभूत हो जाते हैं ॥ २९ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः संधेयोऽयं राजा।' चक्रवाकोऽवदत्–'प्रणिधे, सर्वत्रावव्रज। सर्वमवगतम्। गत्वा पुनरागमिष्यसि' राजा चक्रवाकं पृष्टवान्–'मन्त्रिन्, असंधेयाः कति। ताञ्छ्रोतुमिच्छामि।' मन्त्री ब्रूते–'देव, कथयामि। शृणु–

सो यह वडा गुणी राजा संधिके योग्य है. चकवा वोला–हे दूत! सव जगह जा, सव तो जान लिया. जाकर फिर आना. राजाने चकवेसे पूछा–हे मंत्री! कौन २ संधि करने योग्य नहीं हैं. उनको मैं सुना चाहता हूं. मंत्री वोला–देव! कहता हूं, सुनिये–

बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञातिबहिष्कृतः।
भीरुको भीरुजनको लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ ३० ॥

१ ३० वें श्लोकसे आरंभ करके ३३ वें श्लोक पर्यन्त जिन वीस ऐसे मनुष्योंका वर्णन किया है कि जिनसे सन्धि न करनी चाहिये, उनसें

बालक, बूढा, बडा रोगी, जातिसे वाहर निकाला हुआ, डरपोक तथा कायरोंका साथी, लोभी, जिसके साथ लोभी मनुष्य रहते हैं ३०

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ ३१ ॥

वैराग्यमें जिसका शील है, विषयोंमें वडा आसक्त, संमतिमें जिसका चित्त एकाग्र नहीं, देवता ब्राह्मणोंकी निंदा करनेवाला ॥३१॥

दैवोपहतकश्चैव तथा दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः ॥ ३२ ॥

भाग्यसे मारा हुआ, भाग्यजीवी, दुर्भिक्षके व्यसनसे युक्त, सेनाके व्यसनोंसे आकुल ॥ ३२ ॥

अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥ ३३ ॥

जो देशमें न रहता हो, बहुत शत्रुवाला, वेसमय युद्ध करनेवाला और सत्यधर्मरहित ये वीस पुरुष हैं ॥ ३३ ॥

एतैः संधिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥३४॥

इनसे संधि न करे, केवल युद्धही करे कारण कि, ये विरोध करनेहीसे शत्रुके वशमें होते हैं ॥ ३४ ॥

बालस्यालपप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातुं शक्तो न बालिशः ॥३५॥

बालकके अल्प प्रभाव होनेसे मनुष्य युद्धकी इच्छा नहीं करते, कि बालक युद्ध अयुद्धका फल जाननेका सामर्थ्य नहीं रखता है ३५

उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो दीर्घामयस्तथा ।

सन्धि न करनेके हेतु ओंको स्वयंही ग्रथकारने ३९ वें श्लोकसे ४८ वें श्लोकपर्यन्त संम्यक्तयाप्रतिपादन किया है ।

स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम् ॥ ३६ ॥

बूढा और बडा रोगी ये दोनों उत्साहशक्ति न होनेसे निःसंदेह आपही तिरस्कार पा जाते हैं ॥ ३६ ॥

सुखोच्छेद्यो हि भवति सर्वज्ञातिबहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः ॥ ३७ ॥

सब जातिसे बाहर निकाला हुआ सुखसे मारा जाता है. वे जातिजनही उसे जो अपने आधीन किये गये हैं अवश्य नष्ट कर देते हैं ॥ ३७ ॥

भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति ।
तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ ३८ ॥

भीरु युद्धके छोडनेसे आपही नष्ट हो जाता है. ऐसेही जो भीरु पुरुषोंके संग हैं वे उन्हें युद्धमें त्याग देते हैं । ३८ ॥

लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युद्ध्यन्तेऽनुयायिनः ।
लुब्धानुजीविकैरेष दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ ३९ ॥

लोभीके भागके न देनेसे सेवक युद्ध नहीं करते, दानके न पानेसे उस लोभीको मार डालते हैं ॥ ३९ ॥

संत्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान् ४० ॥

जो अधिकारियोंसे विरक्त है. वह युद्धमें मंत्री आदिकोंसे त्याग दिया जाता है, जो विषयोंमें अधिक फँसा हुआ है, वह सुखसे हरानेके योग्य होता है ॥ ४० ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु भेद्यो भवति मन्त्रिणा ।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते ॥ ४१ ॥

अनेक चित्तकी संमति मंत्रीसे खुल जाती है. डामाडोल चित्त होनेसे कार्यमें उसकी उपेक्षा की जाती है ॥ ४१ ॥

सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिन्दकः ।
विशीर्यते स्वयं ह्येष दैवोपहतकस्तथा ॥ ४२ ॥

देवता और ब्राह्मणोंकी निंदा करनेवाला, सदा धर्मसे बलवान् होनेसेभी आपही नष्ट हो जाता है, ऐसेही भाग्यका माराभी नाशको प्राप्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

संपत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मानमपि चेष्टते ॥ ४३ ॥

संपत्ति और विपत्तिका भाग्यही कारण है, इसलिये दैवपरायण भाग्यको मुख्य माननेवाला यह सोचकर चेष्टाभी नहीं करता ॥ ४३ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव विषीदति ।
बलव्यसनयुक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते ॥ ४४ ॥

और दुर्भिक्षसे दुःखी आपही विषादको प्राप्त होता है, क्योंकि सेनाके भग्न होनेके दुःखसे उसको युद्ध करनेकी शक्ति नहीं होती ४४॥

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपि कर्षति ॥ ४५ ॥

अपने देशमें रहनेवाला थोडे शत्रुओंसेभी मारा जाता है, छोटा नाकाभी जलमें बडे हाथीको खींच लेता है ॥ ४५ ॥

बहुशत्रुस्तु संत्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विपद्यते ॥ ४६ ॥

बहुत शत्रुवाला बाजोंके बीचमें कबूतरके समान डरा हुआ जिस मार्गको जाता है, उसी मार्गमें शीघ्र नष्ट होता है ॥ ४६ ॥

अकालसैन्ययुक्तस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥ ४७ ॥

अकालसे युक्त (बेसमय युद्ध करनेवाला) समयपर युद्ध कर-

नेवालेसे मारा जाता है. जैसे आधी रातके समय नेत्रमें प्रकाश न रहनेके कारण कौवा उल्लूसे मारा जाता है ॥ ४७ ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन संदध्यान्न कदाचन ।
स संधितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ४८॥

सत्यधर्मसे जो विमुख है, उससे संधि कभी न करे. कारण कि वह संधि करनेपरभी असाधु होनेसे शीघ्र विकारको प्राप्त होता है॥४८॥

अपरमपि कथयामि । संधिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् । कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्च पञ्चाङ्गो मन्त्रः । सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायाः । उत्साहशक्तिर्मन्त्रशक्तिः प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम् । एतत्सर्वमालोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः ।

औरभी-कहता हूं, संधि (मेल), विग्रह (युद्ध), यान (युद्धको जाना), आसन, (समय देखना). संश्रय (प्रबलका आश्रय ग्रहण करना), द्वैधीभाव (मुखसे छलपूर्वक वश्यताका स्वीकार करना) ये छः गुण हैं. कर्मोंके आरंभका उपाय, पुरुष और द्रव्यका संग्रह, देशकालका विभाग, आपत्तिका निराकरण, कार्यकी सिद्धि ये पांच परामर्शके अंग हैं. साम (शांत), दान, भेद, दण्ड ये चार उपाय हैं, उत्साहशक्ति, मंत्रशक्ति और प्रभुशक्ति ये तीन शक्ति हैं. इन सबको सोचकर सदा वडे पुरुष जीततेकी इच्छा करनेवाले होते हैं।

या हि प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते ।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलापि प्रधावति ॥ ४९ ॥

देखो, जो लक्ष्मी प्राण छोडनेके मूल्यसेभी नहीं मिलती, वह चंचल होनेपरभी नीति जाननेवालेके पास दौडकर आती है ॥ ४९ ॥

तथा चोक्तम्-

वित्तं यदा यस्य समं विभक्तं
गूढश्चरः संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ९० ॥

जैसा कि कहाभी है-जिसका तुल्यविभाग किया हुआ धन है और गुप्त रहनेवाला दूत है और अच्छी प्रकार रक्षित मंत्र है और जो मनुष्योंसे अप्रिय नहीं बोलता, वह समुद्रपर्यंत पृथ्वीको शिक्षा देता है ॥ ९० ॥

किंतु यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण संधानमुपन्यस्तं तथापि तेन राज्ञा संप्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । देव, तदेव क्रियताम् । सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजास्मन्मित्रं जम्बुद्वीपे कोपं जनयतु । यतः-

यद्यपि बडे मंत्री गिद्धने संधिको कहा, तौभी वह राजा अभी जय होनेके अभिमानसे न मानेगा, हे देव ! सो ऐसा कीजिये कि, सिंहलद्वीपका महाबलनाम राजा सारस हमारा मित्र जम्बूद्वीपमें कोप उत्पन्न करे. क्योंकि-

सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
संतापयेद्येन समं सुतप्त-
स्तप्तेन संधानमुपैति तप्तः ॥ ९१ ॥

बहुत अच्छे प्रकार गुप्त रखवाकर इकट्ठी की हुई सेनासहित विचरता हुआ शत्रुको संतापित करे. जब कि, समान तप जाय तो तत्ता तत्तेके साथ संधिके योग्य होता है. (जैसे तपकर बर्तन

जुडता है ऐसेही दोनों ओरके राजा परस्पर दुःखी हो संधि करते हैं) ॥ ५१ ॥

राज्ञा 'एवमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा बकः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रहितः ।

राजाने कहा ऐसाही हो. यह कह विचित्रनाम बगलेको गुप्त पत्र देकर उसे सिंहलद्वीपको भेजा.

अथ प्रणिधिरागत्योवाच–'देव, श्रूयतां तत्रत्यप्रस्तावः ।' एवं तत्र गृध्रेणोक्तम्–'देव, यन्मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः स वेत्ति किं संधेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो न वा' इति । ततोऽसौ राज्ञा समाहूय पृष्टः–'वायस, कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भः । चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः ।' वायस उवाच–'देव, हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः । चक्रवाकसमो मन्त्री न क्काप्यवलोक्यते ।' राजाह 'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ।' विहस्य मेघवर्णः प्राह–'देव,

फिर दूतने आकर कहा कि देव ! वहांका प्रसंग सुनिये. गिद्धने वहां यह कहा कि, देव ! मेघवर्ण वहां वहुत समयतक रहा है. वह जानता है कि, हिरण्यगर्भ संधि करनेके योग्य गुणवाला है यां नहीं तो राजाने उसे बुलाकर पूछा–हे कौवे ! वह हिरण्यगर्भ कैसा है और चकवा मंत्री कैसा है ? कौवा बोला कि, राजा हिरण्यगर्भ राजा युधिष्ठिरकी समान उदार है और चकवेके समान मंत्री कोई नहीं दिखाई देता. राजा बोला जो ऐसा है तो वह तुझसे कैसे ठगा गया ? मेघवर्ण हँसकर बोला–देव !

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥५२

विश्वास दिलाये हुओंके ठगनेमें क्या पांडित्य है, गोदमें सोये हुएको मारना क्या पुरुषार्थ है ? ॥ ५२ ॥

शृणु देव, तेन मन्त्रिणाहं प्रथमदर्शन एव ज्ञातः। किंतु महाशयोऽसौ राजा। तेन मया विप्रलब्धः। तथा चोक्तम्-

देव ! सुनिये, उस मंत्रीने पहिलीही वार मुझे जान लिया था किन्तु राजा महाशय है, इससे मैंने ठगा. जैसा कि कहा है-

आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम्।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा ॥५३॥'

जो दुष्टकोभी अपनी समान सत्यवादी जानता है. वह इस प्रकार ठगा जाता है, जैसे वकरेके निमित्त धूर्तोंने ब्राह्मणको ठगा ॥ ५३॥

राजोवाच- 'कथमेतत्।' मेघवर्णः कथयति-

राजाने कहा-यह कैस ? मेघवर्ण वोला-

कथा ॥ ९ ॥

अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद्ब्राह्मणः। स च यज्ञार्थं ग्रामान्तराच्छागमुपक्रीय स्कन्धे नीत्वा गच्छन्धूर्तत्रयेणावलोकितः। ततस्ते धूर्ता यद्येष छागः केनाप्युपायेन लभ्यते तदा मतिप्रकर्षो भवतीति समालोच्य वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य पथि स्थिताः। तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः-'भो ब्राह्मण, किमिति कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते।' विप्रेणोक्तम्-'नायं श्वा किंतु यज्ञछागः।' अथानन्तरस्थितेनान्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्।

तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दोलायमानमतिश्चलितः । यतः-

गौतमके वनमें कोई ब्राह्मण यज्ञ करनेको था. यज्ञके लिये दूसरे गांवसे बकरा मोल लेकर कंधेपर रख उसे ले जाते हुएको तीन धूर्त्तोंने देखा. तो वे धूर्त जो यह बकरा किसी उपायसे मिले तो बुद्धि बलवान् हो. यह सोच तीन वृक्षके नीचे एक कोसके अंतरसे उस ब्राह्मणके आनेकी बाट देखते हुए रास्तेमें बैठे. तो एक धूर्तने जाते हुए उस ब्राह्मणसे कहा कि, हे ब्राह्मण ! क्यों इस कुत्तेको कंधेपर लिये जाते हो ? ब्राह्मण बोला-यह कुत्ता नहीं, किन्तु यज्ञका बकरा है. फिर दूसरे बैठे हुए धूर्तने ऐसेही कहा यह सुन ब्राह्मण बकरेको पृथ्वीपर रख बारंबार देख कंधेपर धर बुद्धिको डुलायमान कर चला. कारण कि-

मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः ।
ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत् ॥ ५४ ॥

दुष्टोंके कहनेसे श्रेष्ठोंकीभी बुद्धि डुल जाती है, उन दुष्टोंसे विश्वास दिलाया हुआ यह चित्रकर्णके समान मरता है ॥ ५४ ॥

राजाह-'कथमेतत्' स कथयति-

राजा बोला-कि यह कैसे ? वह बोला-

कथा ॥ १० ॥

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः । तस्य सेवकास्त्रयः काको व्याघ्रो जम्बुकश्च । अथ तैर्भ्रमद्भिः कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः पृष्टश्च-' कुतो भवानागतः सार्थाद्भ्रष्टः ।' चात्मवृत्तान्तमकथयत् । ततस्तैर्नीत्वा सिंहेऽसौ समर्पितः तेनाभयवाचं दत्त्वा चित्र-

कर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः। अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ततस्तैरालोचितम्–'चित्रकर्णमेव यथा स्वामी व्यापादयति तथानुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजा।' व्याघ्र उवाच–'स्वामिनाभयवाचं दत्त्वानुगृहीतस्तत्कथमेवं संभवति।' काको ब्रूते–'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति। यतः–

किसी वनमें मदोत्कटनाम सिंह था, उसके तीन सेवक कौवा, व्याघ्र और गीदड थे. कभी उन घूमते हुओंने कोई ऊंट देखा और पूछा कि, आप समूहसे छूटे हुए कहांसे आये ? उसने अपना समाचार कहा. तौ उन्होंने ले जा उसे सिंहको सौंपा. उसने अभयदान दे चित्रकर्ण उसका नाम रक्खा। फिर कभी सिंहके शरीरकी विकलतासे वडी वर्षाके कारण भोजन न मिलनेसे वे मंत्री आदि दुःखी हुए. तो उन्होंने सोचा कि, जैसे स्वामी चित्रकर्णको मारे, वैसा करना चाहिये. इस काटोंके भक्षण करनेवालेसे क्या लाभ है ? व्याघ्र बोला–स्वामीने अभयदान दे कृपा की है. सो यह कैसे हो सकता है. कौवा बोला–इस समय स्वामी क्षीण है सुतराम् पापभी कर बैठेगा। कारण कि–

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति॥ ५५॥

क्षुधासे व्याकुल स्त्री अपने पुत्रको छोड देती है और क्षुधार्त नागन अपने अंडोंकोभी खा लेती है, भूखा क्या पाप नहीं करता क्षीण मनुष्य निर्दय हो जाते हैं॥ ५५॥

अन्यच्च।

मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।
लुब्धो भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित् ॥५६॥

औरभी-मत्त, प्रमत्त, थका हुआ (श्रांत), क्रोधी, भूखा, लोभी, कायर, शीघ्रता करनेवाला, कामी ये धर्मज्ञ नहीं होते॥५६॥

इति संचिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः। सिंहेनोक्तम्-'आहारार्थं किंचित्प्राप्तम्।' तैरुक्तम्-'यत्नादपि न प्राप्तं किंचित्।' सिंहेनोक्तम्-'कोऽधुना जीवनोपायः।' काको वदति-'देव, स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः।' सिंहेनोक्तम्-'अत्राहारः कः स्वाधीनः।' काकः कर्णे कथयति-'चित्रकर्णः' इति। सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति। 'अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः। तत्कथमेवं संभवति। तथा च-

यह सोच सब सिंहके पास गये, सिंह बोला-भोजनके लिये कुछ पाया ? वे बोले कि, यत्नसेभी कुछ न मिला. सिंह बोला-अब जीनेका क्या उपाय है ? कौवा बोला-देव ! स्वाधीन भोजन छोडनेसे यह सर्व नाश होता है. सिंह बोला-यहां स्वाधीन भोजन क्या है ? कौवेने कानमें कहा कि, चित्रकर्ण है. सिंहने पृथ्वीको छू कान पकडे कि हमने अभय वाक्य दे उसे पाला सो यह कैसे हो सकता है ? कहा है कि-

न भूप्रदानं न सुवर्णदानं
न गोप्रदानं न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥ ५७ ॥

न भूमिका दान, न सोनेका दान, न गौका दान और न अन्नका दानही वैसा बडा दान है, जैसा कि, सब दानोंमें बडा दान अभयदान है ॥ ५७ ॥

अन्यच्च ।

सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् ॥
तत्फलं लभते सम्यग्रक्षिते शरणागते ॥ ५८ ॥ '

औरभी—सब कामनाओंसे बढे हुए अश्वमेधका जो फल है. शरणागतकी अच्छी प्रकार रक्षा करनेसेभी वही फल मिलता है ॥५८॥

काको ब्रूते—' नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः । किंत्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं यथासौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति । ' सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः । ततोऽसौ लब्धावकाशः कूटं कृत्वा सर्वानादाय सिंहान्तिकं गतः । अथ काकेनोक्तम्—' देव, यत्नादप्याहारो न प्राप्तः । अनेकोपवासखिन्नः स्वामी । तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम् । यतः—

कौवा बोला—कि स्वामी (आप) से यह मारने योग्य नहीं परंतु हम ऐसा करें कि, जिससे वह अपना शरीर देना स्वीकार करे सिंह यह सुन चुप रहा. तो यह उस समय कपट कर सबको ले सिंहके पास गया तो कौवाही बोला—देव ! यत्नसेभी भोजन न पाया और आप बडे उपवास (लंघन) से खेदित हैं सो अब मेरे मांसका भोजन कीजिये. क्योंकि—

स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः खलु ।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम् ॥५९॥ '

सब प्रकृति प्रजाओंका मूल स्वामीही है. मूलसहित वृक्षमें मनुष्योंका यत्न सफल होता है ॥ ५९ ॥

सिंहेनोक्तम्-'वरं प्राणपरित्यागः । न पुनरीदृशि कर्मणि प्रवृत्तिः ।' जम्बुकेनापि तथोक्तम् । ततः सिंहेनोक्तम्-'मैवम् ।' अथ व्याघ्रेणोक्तम्-'मद्देहेन जीवतु स्वामी ।' सिंहेनोक्तम्-'न कदाचिदेवमुचितम् ।' अथ चित्रकर्णोऽपि जातविश्वासस्तथैवात्मदानमाह । ततस्तद्वचनात्तेन व्याघ्रेणासौ कुक्षिं विदार्य व्यापादितः सर्वैर्भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'मतिर्दोलायते सत्यम्' इत्यादि ।

सिंह बोला-प्राण छोडना श्रेष्ठ है परंतु ऐसा कर्म करना अच्छा नहीं. गीदडनेभी वैसाही कहा तब सिंह बोला-ऐसा मत कह. फिर व्याघ्र बोला-स्वामी ! मेरे शरीरको पा लीजिय. सिंह बोला-यह कभी उचित नहीं, तौ चित्रकर्णभी विश्वासको प्राप्त होनेसे वैसेही अपना शरीर देनेको बोला तो उसके वचनसे उस व्याघ्रने उसकी कोख फाड मार डाला और सबने भक्षण किया. इससे मैं कहता हूं कि, दुष्टोंके कहनेसे सच्चोंकी मति डुल जाती है इत्यादि ।

ततस्तृतीयधूर्तवचनं श्रुत्वा स्वमतिभ्रमं निश्चित्य छागं त्यक्त्वा ब्राह्मणः स्नात्वा गृहं ययौ । स छागस्तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'आत्मौपम्येन यो वेत्ति' इत्यादि ।

तो तीसरे धूर्तके वचन सुन अपनी मतिका भ्रम निश्चय जान बकरा छोड ब्राह्मण स्नान कर अपने घरको चला गया वह बकरा उन धूर्तोंने ले जाकर खाया, इससे मैं कहता हूं कि, जो अपने समान जानता है इत्यादि ।

राजाह-'मेघवर्ण ! कथं शत्रुमध्ये त्वया चिरमुषि-

तम् । कथं वा तेषामनुनयः कृतः । ' मेघवर्ण उवाच-' देव ! स्वामिकार्यार्थिना स्वप्रयोजनवशाद्वा किं न क्रियते ! पश्य ।

राजा बोला-मेघवर्ण ! तू शत्रुओंमें बहुत समयतक कैसे रहा और कैसे उनसे संबंध किया ? मेघवर्ण बोला-देव ! स्वामीके कार्यको चाहनेवालोंसे या अपने प्रयोजनके वशसे क्या नहीं किया जाता ? देखो.

लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ।
क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेला निकृन्तति ॥ ६० ॥

हे राजन् ! क्या मनुष्य जलानेके लिये ईंधनको शिरपर नहीं उठाता और धोती हुईभी नदीकी धारा वृक्षकी जडको काट देती है ॥ ६० ॥

तथा चोक्तम्-

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डुका विनिपातिताः ॥ ६१ ॥,

जैसा कहाभी है कि, कार्य पाकर बुद्धिमान् शत्रुओंकोभी कंधेपर उठावे. जैसे बूढे सांपने मैंडकोंको मारा ॥ ६१ ॥

राजाह-' कथमेतत् । ' मेघवर्णः कथयति-

राजा बोला-यह कैसे ? मेघवर्ण बोला-

कथा ॥ ११ ॥

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः । सोऽति-

---

१ 'काले सहिष्णुर्गिरिवदसहिष्णुश्च वह्निवत् । स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून् प्रियाणि समुदाहरन् ॥ ' इ. पा. का. नी. ' वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् स्यात् स्वबलाधिकः । ज्ञात्वा नष्टबलं तं तु भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥ ' इ. पा. शु. नी. ' वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालस्य पर्ययः । प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥ ' इ. पा. म. भा.

जीर्णतयाहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः। ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्टः। पृष्टश्च-'किमिति त्वमाहारं नान्विष्यसि।' सर्पोऽवदत्-'गच्छ भद्र, मम मन्दभाग्यस्य प्रश्नेन किम्।' ततः संजातकौतुकः स च भेकः 'सर्वथा कथ्यताम्' इत्याह। सर्पोऽप्याह-'भद्र, ब्रह्मपुरवासिनः श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विंशतिवर्षीयः सर्वगुणसंपन्नो दुर्दैवान्मम नृशंसस्वभावाद्दष्टः। तं पुत्रं सुशीलनामानं मृतमालोक्य मूर्च्छितः कौण्डिन्यः पृथिव्यां लुलोठ। अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्रागत्योपविष्टाः। तथा चोक्तम्-

प्राचीन उद्यानमें मंदविष नाम सांप था वह बडी जीर्णतासे भोजनके ढूंढनेकोभी असमर्थ हो एक सरके किनारे गिरकर स्थित हुआ. तौ दूसरेही किसी मेंडकने देखा और पूछा कि, तू भोजनको क्यों नहीं ढूंढता ? सांप बोला-प्रिय ! जाओ मुझ मंदभाग्यके पूछनेसे क्या है. तौ कौतुक उत्पन्न होनेसे वह मेंडक "सब कहिये" यह बोला. सांप बोला-भद्र ! ब्रह्मपुरनिवासी चतुर्वेदी पंडित कौंडिन्यका सब गुणोंसे युक्त वीस वर्षका पुत्र दुर्भाग्यके वश मेरे कठोर स्वभावसे डसा गया. उस मरे हुए सुशीलनाम पुत्रको देख कौंडिन्य मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिरा. इसके पीछे सब ब्रह्मपुरनिवासी बंधुजन वहां आकर बैठे. जैसा कहा है-

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥६२॥'

उत्सवमें, व्यसनमें, युद्धमें, राष्ट्रविप्लव (राजलूट) में, राजद्वारमें ...थ दे वह बंधु है॥ ६२॥

तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्–' अरे कौण्डिन्य, मूढोऽसि । तेनैव विलपासि । शृणु–

तहां कपिलनाम ब्रह्मचारी बोला–अरे कौंडिन्य! तू मूर्ख है. इसी कारण रोता है सुन–

क्रोडीकरोति प्रथमं यथा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात्तथा शोकस्य कः क्रमः ॥६३॥

उत्पन्न होतेही बालकको अनित्यता पहले गोदमें लेती है और माताकी गोदमें तो धायकी तरह पीछे आता है इसमें शोककी क्या बात है ? ॥ ६३ ॥

क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥ ६४ ॥

सेनाबलवाहनसहित पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले राजा कहां भाग गये, जिनके वियोगकी साक्षी देनेवाली पृथ्वी अबतक विद्यमान है ॥६४॥

---

१ गुरुगृहमें वेदाध्ययन करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके प्रथम यथाविधि जो स्नान आदि किया जाता है उसे ' समावर्त्तन ' कहते हैं और जिसने समावर्त्तन किया हो वह ' स्नातक ' कहलाता है, हारीतसंहितामें लिखा है कि ' स्नातक ' तीन प्रकारके होते हैं–"त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको, व्रतस्नातको, विद्याव्रतस्नातकश्चेति । यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्त्तते स विद्यास्नातकः, समाप्य व्रतानि वेदमसमाप्य यः समावर्त्तते स व्रतस्नातकः यश्चोभयं समाप्य समावर्त्तते स विद्याव्रतस्नातकः " अर्थात् विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ये तीन प्रकारके स्नातक हैं, जो गुरुकुलमें केवल वेदको समाप्त कर और व्रतोंको विना समाप्त कियेही समावर्त्तन किया हो वह विद्यास्नातक कहाता है, जिसने वेद समाप्त किये विना व्रतोंको समाप्त किया हो उसको व्रतस्नातक कहते हैं और जो वेद तथा व्रत दोनोंहीको यथोक्त विधिसे समाप्त करके समावर्त्तित होता है उसे विद्याव्रतस्नातक कहते हैं ।

तथाच ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम् ॥६५॥

औरभी-जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु अवश्य है और मृतकका जन्म अवश्य है, सुतराम् चाहे आज या सैकडों वर्षके पीछे प्राणधारियोंकी मृत्यु तौ अवश्यही होगी ॥ ६५ ॥

अपरं च ।

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ ६६ ॥

औरभी शरीर अपाय (दुःख) से भरा है, संपत्तियां आपदोंका स्थान हैं. समागम वियोगके संग हैं, सब उत्पन्न वस्तु नष्ट होनेवाली है ॥ ६६ ॥

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते६७॥

प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ यह शरीर नहीं दीख पडता. जैसे पानीमें रक्खा हुआ कच्चा घडा गल जानेपर जाना जाता है ॥६७॥

आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने दिने ।
आघातं नीयमानस्य वधस्येव पदे पदे ॥ ६८ ॥

जैसे वधके योग्य पुरुषको ले जानेमें पद पदपर आघात होता है, इसी प्रकार शरीरधारीकी मृत्यु दिन दिन प्रति समीप आती जाती है ॥ ६८ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो मुह्येत्तत्र न पण्डितः ॥ ६९ ॥

यौवन, रूप, जीवन, द्रव्यका संचय. ऐश्वर्य, प्रियके साथ रहना ये अनित्य हैं. पंडितोंको इनमें मोहित होना उचित नहीं ॥ ६९ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७० ॥

जैसे बहते हुए दो काष्ठ समुद्रमें मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं इसी प्रकार प्राणियोंका समागम है ॥ ७० ॥

यथा हि पाथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७१ ॥

जैसे कोई पाथिक मार्गमें चलता हुआ छायाको पाकर बैठ जाता है और विश्राम करके फिर चला जाता है. ऐसेही मनुष्योंका समागम है ॥ ७१ ॥

अन्यच्च ।

पञ्चभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वं च पुनर्गते ।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना ॥ ७२ ॥

औरभी–पांच तत्वोंसे शरीर बना है, उसके पंचत्व (मृत्यु) को प्राप्त होनेपर अपनी २ योनिमें जानेसे क्या पश्चात्ताप है ? ॥ ७२ ॥

यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽपि निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥ ७३ ॥

जितनाही देहधारी मनसे प्रिय संबंधोंको करता है, उतनाही शोककी कीलें हृदयमें गढ जाती हैं ॥ ७३ ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ७४ ॥

कोई पुरुषभी इस लोकमें नित्य नहीं रह सकता कि; जब अपना शरीरही नित्य नहीं तो और कैसे हो सकता है ? ॥ ७४ ॥

---

१ पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पांच तत्वोंसे देह निर्माण होता है ।

अपि च ।

संयोगो हि वियोगस्य संसूचयाति संभवम् ।
अनतिक्रमणीयस्य जन्ममृत्योरिवागमम् ॥ ७५ ॥

औरभी-संयोगही वियोगके होनेको जताता है, जैसे जन्म निवारणके अयोग्य मृत्युके आगमनकी सूचना होती है ॥ ७५ ॥

आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः ॥ ७६ ॥

प्रियजनोंके संग क्षणभर सुन्दर संयोगका फल कुपच अन्नोंके समान अंतमें बडा दारुण है ॥ ७६ ॥

अपरं च ।

व्रजन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा ।
आयुरादायमर्त्यानां तथा रात्र्यहनी सदा ॥ ७७ ॥

औरभी-जैसे नदियोंके सोते सदा जाते और निवृत्त नहीं होते ऐसेही मनुष्योंकी आयुको लेकर दिन रात जाते हैं पर लौटके नहीं आते ॥ ७७ ॥

सुखास्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।
स वियोगावसानत्वाद्दुःखानां धुरि युज्यते ॥ ७८ ॥

सुख [illegible] रस स्वादिष्ठ जो संसारमें सत्समागम है, वह वियोग[illegible] दुःखोंकी धुरोंमें जोडा जाता है ॥ ७८ ॥

[illegible] हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।
य[illegible]योगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम् ॥ ७९ ॥

इसीलिये साधुजन सत्समागमकी इच्छा नहीं करते; क्योंकि, वियोगकी तलवारसे कटे हुए मनकी औषधि नहीं है ॥ ७९ ॥

सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः ।

